प्रकाशक : मंत्री, सर्व सेवा संघ,
राजघाट, वाराणसी-१
मुद्रक : नरेन्द्र भार्गव,
भार्गव भूषण प्रेस,
त्रिलोचन, वाराणसी
संस्करण : दूसरा
प्रतियाँ : ५,०००; फरवरी, १९७२
कुल प्रतियाँ : ८,०००

साधारण संस्करण : रु० ३.००
पुस्तकालय संस्करण : रु० ५.००

Title : GANDHI : JAISA DEKHA-SAMAJHA VINOBA NE
Editor & Compiler : Kantibhai Shah
Subject : Gandhiana
SARVA SEVA SANGH PRAKASHAN
RAJGHAT, VARANASI-1
Paperback : Rs. 3/-
Library Ed. : Rs. 5/-

प्रकाशकीय

विनोबाजी की 'गांधी : जैसा देखा-समझा' पुस्तक हिन्दी पाठकों तक पहुँचाते हुए हमें प्रसन्नता हो रही है।

सामग्री के संकलन तथा सम्पादन में श्री कान्तिभाई शाह ने परम भक्तिभाव से और लगनपूर्वक अद्‌भुत श्रम किया है। उन्होंने सामग्री का मन्थन करके अमृतोपम और सुस्वादु नवनीत प्रस्तुत किया है। इस महत्त्वपूर्ण कार्य के सम्पादन के लिए हम उनके हृदय से आभारी हैं।

'राष्ट्रपिता' और 'महात्मा' तथा निकटवर्ती लोगों के 'वापू' के विपय में युग-सन्त विनोबा की वाणी में जो कुछ प्रकट हुआ है, वह श्रद्धांजलि भी है, राष्ट्र की नीति के लिए दिशा-दर्शन भी है और गांधीजी को समग्र दृष्टि से समझने के लिए प्रेरक आधार भी।

सर्वप्रथम यह पुस्तक गुजराती में प्रकाशित हुई है। उसी पुस्तक से यह हिन्दी संस्करण तैयार किया गया है। इसका अनुवाद भाई जमनालाल जैन ने किया है और उन्होंने कोशिश की है कि यथासंभव वावा की शैली में ही वावा के विचार रहें। इसके लिए हम उनके भी आभारी हैं। इस संस्करण में भापा, भाव, विचार तथा तथ्य संवंधी आवश्यक संशोधन कर दिये गये हैं। इसके लिए हम वावाजी मोघे के आभारी हैं।

पुस्तक को वावा ने देख लिया है और इसे अपनी मान्यता प्रदान की है।

इस कृति के अनुशीलन और पठन-पाठन से आज की तरुण पीढ़ी को, जिसने गांधीजी का दर्शन नहीं किया है, अवश्य ही जीवन-उन्नायक प्रकाश मिलेगा।

राधाकृष्ण बजाज

सम्पादकीय

गांधीजी अपने अन्तेवासियों से कभी-कभी कहते थे कि मैं हूँ, तव तक भले ही तुम लोग न चमको, लेकिन जब मैं नहीं होऊँगा, उस दिन दुनिया तुम्हारा तेज देखनेवाली है। गांधीजी की यह भविष्यवाणी विनोवा के वारे में सत्रह आना सही उतरी दीखती है।

ठेठ १९१७ में दीनवन्धु एण्ड्रचूज के साथ वातचीत करते हुए गांधीजी ने विनोवा के वारे में कहा था कि "आश्रम के दुर्लभ रत्नों में से यह एक है। वह आश्रम को ही अपने पुण्य से सींचने आये हैं; लेने नहीं आये, देने आये हैं।"

दूसरी ओर विनोवा कहते हैं : "भगवान् की अपार कृपा है कि उसने मुझे वापू के चरणों में स्थिर किया।···वापू के आश्रम से मुझे क्या-क्या मिला है, यह तो मेरा मन जानता है।···आश्रम में आने के वाद मुझे आँख ही मिल गयी। वापू का आश्रम मेरे लिए दृष्टिदायी मातृस्थान है।"

दो-एक वार विनोवा ने गांधीजी को पत्र में लिखा : "ईश्वर मुझसे सेवा लेगा क्या ?···इस दुनिया में आपके आशीर्वाद के बिना सव शून्य है।···आपके महायज्ञ की आहुति बन जाने की योग्यता ईश्वर से इस सेवक को दिलाइये।"

तव जवाव में गांधीजी ने लिखा था : "तुम्हारा प्रेम और चारित्र्य मुझे मोह में डुवा देता है।···तुम्हारी भक्ति और श्रद्धा आँखों में खुशी के आँसू लाती है। मैं उसके लायक हूँ या नहीं हूँ, परन्तु तुमको तो वह फलेगी ही। तुम वड़ी सेवा के निमित्त वनोगे।···ईश्वर तुमको दीर्घायु वनाये और तुम्हारा उपयोग हिन्द की उन्नति के लिए हो!"

गांधीजी के ये आशीर्वाद आज हम पूर्ण रूप से सार्थक हुए देखते हैं। विनोवा देश-दुनिया की वड़ी सेवा के निमित्त वने हैं। गांधीजी

के महायज्ञ को इन्होंने आगे बढ़ाया है। वे कहते हैं: "मेरी अन्तरात्मा साक्षी है कि गांधीजी ने अहिंसा का जो मार्ग दिखाया है, उस पर चलने की मैंने पूरी-पूरी कोशिश की है। ···उनके विचारों में से जितना मैं समझा हूँ और जितना मुझे रुचा है, उतने पर अमल करने की, प्रतिक्षण सावधान रहकर, मेरी कोशिश चल रही है—ऐसा कहने में मुझे संकोच नहीं है। ···बापू के जाने के बाद मैं बापू का ही काम कर रहा हूँ, इसमें मुझे रत्तीभर शंका नहीं है। ···मैं मानता हूँ कि मेरे चिन्तन में बापू का साररूप अंश है।"

× × ×

दुनिया आज अन्याय से, उत्पीड़न से और शोपण से त्रस्त है। सत्ता के शिकंजे में उसकी साँस अवरुद्ध हो रही है, उसका दम घुट रहा है। युद्ध और शस्त्रास्त्रों के अभिशाप से वह पीड़ित है। विज्ञान सत्ता, सम्पत्ति और स्वार्थ के हाथों बिक गया है। गांधी हमारे युग की इस विभीषिका से छूटने के मानव-जाति के प्रयास के प्रतीकस्वरूप थे। गांधी व्यक्तिरूप से तो चले गये, लेकिन विचाररूप से अमर हैं। व्यक्ति विचार को व्यक्त करने में निमित्त बनता है। इस तरह निमित्त बन कर गांधी तो चले गये; लेकिन उनके विचार हैं।—विचारों की छानबीन हमेशा होती रहनी चाहिए। विचारों का हमेशा अध्ययन-चिन्तन चलता रहे, अनुशीलन-परिशीलन होता रहे, वैसे-वैसे उसका विकास होता है, उस पर पुट चढ़ते रहते हैं, नयी-नयी कलमें होती रहती हैं। इस दृष्टि से गांधी की विचार-सरणी को आगे बढ़ाने में विनोबा का हिस्सा अनोखा है।

× × ×

इस तरह, व्यक्तिगत एवं वैचारिक, दोनों दृष्टियों से गांधीजी के साथियों में विनोबा का स्थान अनोखा है। इसीलिए गांधी को विनोबा ने जैसे देखा-समझा, वैसे जानने-देखने की इच्छा हमें भी होगी। लेकिन विनोबाजी तो अब ऐसा कुछ लिखकर देनेवाले नहीं और इस विषय

में सिलसिलेवार उनका कहा हुआ कुछ मिले भी कहाँ। यद्यपि छुटपुट उन्होंने कहा है बहुत। खासकर गांधी-विचार के प्राणकार्यसम भूदान-ग्रामदान-आन्दोलन के निमित्त सारे देश में घमना हुआ, तब प्रवचनों में तथा चर्चा आदि में गांधी के बारे में, उनके विचारों एवं कार्यों के बारे में अनेक बार उन्होंने कहा है। इसलिए विनोवाजी का गांधी-दर्शन समग्र रूप से प्रस्तुत करना हो, तो इस बिखरी सामग्री में से ही कुछ तैयार करना होगा। इस पुस्तक का सम्पादन ऐसा ही एक प्रयास है।

इस विषय की सामग्री इकट्ठी करते-करते लगभग ३०० प्रवचन (वक्तव्य) और लेख आदि मिले। उन सब पर से सम्पादन करके यह पुस्तक तैयार की गयी है। फिर भी यह पुस्तक इन ३०० प्रवचनों (वक्तव्यों) का मात्र संकलन या समुच्चय ही नहीं है। इस सामग्री को पहले तो २१ प्रकरणों में बाँट दिया है और फिर प्रत्येक प्रकरण इस सामग्री से तैयार किया हुआ परिपाकरूप है।

सम्पादन के पीछे दृष्टि यह रही है कि अन्त में जो तैयार हो, वह मिश्रण जैसा नहीं, पर रासायनिक संयोजन जैसा होना चाहिए—वैसे ही, जैसे ऑक्सीजन और हाइड्रोजन मिलकर अन्त में पानी बनता है। दूध और चावल इकट्ठा कर दिया, ऐसा नहीं, बल्कि दोनों एक साथ पककर एकरस खीर बननी चाहिए।

इसमें जो कुछ है, वह है सब विनोवा का ही। कहीं-कहीं दो-एक शब्द या दो-एक वाक्य सिर्फ संकलन अथवा कड़ी जोड़ने के लिए बढ़ा दिये गये हैं। बाकी विनोवा के शब्दों में ही सारा प्रस्तुत है। लेकिन यह प्रस्तुतीकरण है सम्पादक के चित्त में तैयार हुए नकशे के अनुरूप। विनोवा का गांधी-दर्शन कैसा है, इस सम्बन्ध में सम्पादक के चित्त में जैसी छाप पड़ी है, उसके अनुसार यहाँ प्रस्तुतीकरण हुआ है। इसलिए प्रस्तुतीकरण की जवाबदारी सम्पूर्ण रूप से सम्पादक की है। मूल प्रवचन (वक्तव्य) और लेख आदि नये ही सन्दर्भ में और नये ही पूर्वापर सम्बन्ध के साथ यहाँ प्रस्तुत होने से सम्पादकीय कमी या क्षति के लिए

गुंजाइश रहती है। ऐसा कुछ प्रतीत हो तो जानकारों से प्रार्थना है कि वे सम्पादक का ध्यान आकृष्ट करें।

फिर, जितनी सामग्री हाथ में आयी, उतनी का ही यहाँ सम्पादन हुआ है। सम्भव है कि अभी भी कुछ सामग्री छूट गयी हो। इसकी ओर ध्यान जाने पर नये संस्करण में उसका समावेश किया जा सकेगा।

गांधी के विषय में विनोबा को समग्र रूप से जो कहना है, उसकी कुछ झलक इस पुस्तक से मिल जाय और वह गांधी-विनोबा को अधिक अच्छी तरह समझने के लिए उपयोगी हो, यही अपेक्षा है।

इस पुस्तक-विषयक सामग्री बहन श्री कान्ताबहन शाह और श्री अमृत मोदी ने एकत्र कर दी है।

(गुजराती से अनूदित)

—कान्ति शाह

अनुक्रम



१. क्रान्ति-शान्ति का अपूर्व संगम

छोटा था, तभी से मेरा ध्यान बंगाल और हिमालय की ओर खिंचा हुआ था। मैं हिमालय और बंगाल जाने के सपने सँजोया करता। बंगाल में 'वन्दे मातरम्' की क्रान्ति की भावना मुझे खींचती थी तो दूसरी ओर हिमालय का ज्ञानयोग मुझे तानता। सन् १९१६ में जब मैं घर छोड़कर निकल पड़ा, तब मेरी एक तो हिमालय जाने की इच्छा थी, दूसरी बंगाल जाने की। हिमालय और बंगाल दोनों के रास्ते में काशी नगरी पड़ती थी। कर्म-संयोग से मैं वहाँ पहुँचा।

काशी में रहते हुए एक दिन मुझे महात्मा गांधी का पहले पहल स्मरण आया। उनका वह प्रसिद्ध भाषण, जब मैं बड़ौदा रहता था, तब अखबार में पढ़ा था। बनारस हिन्दू युनिवर्सिटी के उद्घाटन-समारोह में वे आये थे। उस समारंभ में बड़े-बड़े विद्वान्, राजा-महाराजा और वाइसराय आये थे। उनकी उपस्थिति में गांधीजी ने जो ओजस्वी भाषण किया था, उसका मुझ पर गहरा असर हुआ। मुझे लगा, यह पुरुष ऐसा है जो देश की राजनैतिक स्वतंत्रता और आध्यात्मिक विकास, दोनों साथ-साथ साधना चाहता है। मैं यही चाहता था। मैंने पत्र लिखकर कुछ प्रश्न पूछे। जवाब मिलने पर फिर से पूछा। उत्तर में गांधीजी ने आश्रम में दाखिल होने के बारे में नियमावली भेजी और लिखा कि पत्र-व्यवहार से ऐसे प्रश्नों का अधिक खुलासा नहीं हो सकता। तुम प्रत्यक्ष मिलो।

और, मेरे पैर महात्मा गांधी की तरफ मुड़े। यों देखें तो लगेगा कि मैं न तो हिमालय गया और न बंगाल पहुँचा। लेकिन

अपने मन से दोनों जगह एक साथ पहुँच गया। गांधीजी के पास मुझे हिमालय की शांति भी मिली और बंगाल की क्रान्ति भी। वहाँ जो पाया, उसमें क्रान्ति और शान्ति दोनों का अपूर्व संगम हुआ था।

बापू के चरणों में

सन् १९१६ की ७ जून के दिन मैं कोचरब-आश्रम में पहली वार गांधीजी से मिला। भगवान् की अपार कृपा थी कि उसने मुझे उनके चरणों में स्थिर किया। अपना हृदय और जीवन जब देखता हूँ तो लगता है कि दोनों उनके चरणों में अत्यन्त स्थिर हैं। जो विचार, जो शिक्षण उन्होंने मुझे दिया, नहीं जानता कि उस पर कितना अमल कर सका हूँ। वे भी नहीं जानते और शायद आप भी न जान पायेंगे; लेकिन भगवान् उसे जानेगा। उनके विचारों में से जितना मैं समझा और जितना मुझे रुचा, यह कहने में मुझे कोई संकोच नहीं कि उतने पर अमल करने की प्रतिक्षण सावधान रहकर मेरी कोशिश चल रही है। बल्कि उनके जीते-जी मैं जितना सावधान था—और ईश्वर-कृपा से वहुत सावधान था—उसकी अपेक्षा आज निःसन्देह अधिक सावधान हूँ। मैं निरन्तर अनुभव करता हूँ कि वे मेरे आगे-पीछे और ऊपर हैं।

शंकराचार्य का वाक्य मुझे हमेशा याद आता है कि मनुष्य के परम भाग्य तीन होते हैं: (१) मानव-देह की प्राप्ति, (२) मुमुक्षुत्व—मुक्ति की छटपटाहट और (३) किसी महापुरुप के आश्रय का लाभ : **मनुष्यत्वं मुमुक्षुत्वं महापुरुषसंश्रयः।**

शंकराचार्य के इस वाक्य पर विचार करता हूँ तो मेरा हृदय आनन्द से उछलने लगता है। मैं परम धन्य हूँ कि मानव-देह मिली, मुक्ति की धुन लगी और महापुरुष का सत्संग मिला। संत-महात्माओं की वाणी पुस्तकों में पढ़ना एक वात है और

उनका प्रत्यक्ष सत्संग करना, उनके मार्गदर्शन में काम करना, प्रत्यक्ष उनका जीवन देखना अलग बात है। मुझे यह भाग्य प्राप्त हुआ, इससे मैं धन्य हो गया।

अन्तर्बाह्य एकता की अवस्था

गांधीजी ने मेरी परीक्षा, कसौटी की होगी या नहीं, मैं नहीं जानता। लेकिन अपनी बुद्धि से मैंने उनकी बहुत परीक्षा कर ली थी, और यदि इस परीक्षा में वे कम उतरते तो उनके पास मैं टिक नहीं पाता। मेरी परीक्षा करके उन्होंने मुझमें चाहे जितनी खामियाँ देखी होंगी या देखते होंगे, तो भी वे मुझे अपने साथ रखते थे। किन्तु अगर मुझे उनकी सत्यनिष्ठा में कुछ भी कमी, न्यूनता या खामी दीखती, तो मैं उनके पास टिक नहीं पाता।

बापू हमेशा कहते थे कि मैं तो अपूर्ण हूँ, अधूरा हूँ। उनकी बात सच थी। झूठ बोलना वे जानते नहीं थे। वे सत्यनिष्ठ थे। मैंने ऐसे बहुत-से महापुरुष देखे हैं, जिन्हें अपने बारे में ऐसा भास होता है कि वे मुक्त पुरुष हैं, पूर्ण-पुरुष हैं। फिर भी ऐसे किसीका मुझे आकर्षण नहीं हुआ। लेकिन सदैव अपने को अपूर्ण माननेवाले बापू का ही मुझे अनोखा आकर्षण रहा। मुझ पर जितना असर बापू का पड़ा, उतना पूर्णता का दावा करनेवाले दूसरे सज्जनों का नहीं पड़ा।

मैं बापू से मिला और उन पर मुग्ध हो गया, सो उनकी अंतर्बाह्य एकता की अवस्था के कारण। फिर, कर्मयोग की दीक्षा मुझे बापू से मिली। गीता में तो यह कहा ही गया है, लेकिन उसका साक्षात्कार हुआ बापू के जीवन में। गीता के कर्मयोग का प्रत्यक्ष आचरण मैंने बापू में देखा। गीता में स्थितप्रज्ञ के लक्षण आते हैं। यह वर्णन जिस पर लागू हो, ऐसा स्थितप्रज्ञ देहधारी खोजने पर बड़े भाग्य से ही मिलेगा।

लेकिन इन लक्षणों के वहुत निकट पहुँचे महापुरुष को मैंने अपनी आँखों से देखा ।

गाय जैसे वत्सल

ऐसे एक महापुरुष के साथ काम करने का और उनके आश्रय में जिन्दगी विताने का परम सौभाग्य मुझे हासिल हुआ है । वहुत-से लोगों का ऐसा खयाल है कि जो वड़े लोगों की छाया में रहते हैं, उनका पूरा विकास नहीं होता । इसकी मिसाल के तौर पर कहा जाता है कि वड़े पेड़ की छाया में जो छोटे-छोटे पौधे होते हैं, उनका पोषण नहीं होता, वे वढ़ नहीं पाते । क्योंकि बड़ा पेड़ छोटे पौधों का तमाम पोषण खुद सोख लेता है, जो उन पौधों के लिए जरूरी है ।

लेकिन यह मिसाल महापुरुषों पर लागू नहीं होती । महापुरुषों के लिए दूसरी मिसाल है । महापुरुषों के आश्रय में जो रहते हैं, वे वैसे होते हैं, जैसे गाय के गोठे में बछड़े । गाय अपना दूध बछड़ों के लिए देती है । वड़े पेड़ छोटे पौधों का पोषण खुद चूस लेते हैं । महापुरुष तो गाय की तरह वत्सल होते हैं । गाय खुद घास आदि खाकर वालकों को मधुर दूध पिलाती है । उसके आश्रय में वालक पोसाते हैं, बढ़ते हैं । महात्मा गांधी का यह अनुभव उन सव लोगों को आया, जिन्होंने उनका आश्रय लिया। उनके आश्रय में जो भी आये, वे अगर बुरे भी थे तो अच्छे बने । छोटे थे तो वड़े वने । कायर थे तो निर्भय बने । उन्होंने हजारों का महत्त्व वढ़ाया और तिस पर भी अपने को सवसे छोटा समझा । मैं अपना जीवन धन्य समझता हूँ कि मुझे उनका आश्रय मिला ।

सन् १९१६ में जव मैं उनके पास पहुँचा, तव इक्कीस वरस का छोकरा था । एक जिज्ञासु वालक-वृत्ति लेकर उनके पास गया था । मेरे सारे मित्र जानते हैं कि जिसे 'सभ्यता',

'शिष्टता' कहते हैं, मुझमें बहुत ही कम थी। मैं तो स्वभाव से जंगली जानवर जैसा रहा हूँ। मेरे भीतर के क्रोध के ज्वालामुखी और दूसरे अनेक वासनाओं के वड़वानल का शमन करनेवाले तो बापू ही थे। मुझ पर निरन्तर उनके आशीर्वाद बरसे हैं। मैं उनका एक पालतू जंगली प्राणी हूँ। आज मैं जो कुछ हूँ, वह सारा बापू की आशीष का चमत्कार है। उन्होंने मुझ जैसे असभ्य आदमी को सेवक बना दिया।

दृष्टिदायी मातृस्थान

मैं बापू के आश्रम आया और आश्रम का जो कुछ जीवनस्वरूप अपनी दृष्टि से देखा, उससे मुझे बहुत-कुछ मिला। परिणामस्वरूप मुझे अनुभव हुआ कि जीवन एकरस और अखंड है। बापू कभी अपने को गुरु के तौर पर नहीं मानते थे और अपने को भी किसीके शिष्य के तौर पर नहीं मानते थे। इसी तरह मैं भी न किसीका गुरु हूँ और न किसीका शिष्य—जब कि मैं गुरु के महत्त्व को बहुत मानता हूँ। गुरु ऐसे हो सकते हैं, जो केवल स्पर्श से, दर्शन से अथवा वाणीमात्र से शिष्य का उद्धार कर सकें। इतना ही नहीं, यह भी मानता हूँ कि केवल संकल्प से भी शिष्य का उद्धार करनेवाले पूर्णात्मा गुरु हो सकते हैं। फिर भी यह मैं कल्पना में ही मानता हूँ। वस्तुस्थिति में ऐसे किसी गुरु को मैं नहीं जानता। लेकिन गुरुत्व की यह भाषा छोड़ मैं इतना ही कहूँगा कि मुझे बापू के आश्रय में जो कुछ मिला, वही अब तक मेरे काम आ रहा ह। मेरी जो भूदान-ग्रामदान-यात्रा चली, वह सब वहीं की साधना की आभारी है। उसके पहले मैं जो साधना करता था, वह केवल भावनारूप थी। लेकिन उसके बाद बापू के आश्रम की साधना चली और आश्रम में आने के बाद मुझे आँख ही मिल गयी। यह सारा उपकार बापू का है। बापू का आश्रय मेरे लिए दृष्टिदायी मातृस्थान है।

अहिंसा का गहरा मार्ग

बापू के पास आने के बाद मेरे ३२ वर्ष व्यक्तिगत साधना में बीते। तब मेरा अपना निरन्तर जो चिन्तन-मनन चलता, वह सारा आध्यात्मिक था, जब कि वह साधना प्रवृत्तिमुक्त नहीं थी। राजनीति आदि जो कुछ चलता, वह सब देखता रहता। समाज-निरीक्षण में बिलकुल अप-टु-डेट रहता। बापू जो कुछ लिखते या कहते, वह मेरे मार्गदर्शक के रूप में होता। उनके विचारों का मैं बहुत ही सूक्ष्मभाव से अभ्यास करता और उसमें से जो कुछ मिलता, उस पर अमल करने का यथाशक्ति प्रयत्न करता। यों करते-करते बापू का दिखाया हुआ अहिंसा का गहरा मार्ग हमारे हाथ लगा।

भागवत-धर्म के बारे में एक बहुत सुन्दर श्लोक है। बापू ने जो अहिंसा का रास्ता खोज निकाला, उस पर वह पूरी तरह लागू होता है। श्लोक में कहा गया है :

यमास्थाय नरो राजन्, न प्रमाद्येत कर्हिचित्।
धावन्निमील्य वा नेत्रे न स्खलेन्न पतेदिह ॥

भागवत-धर्म ऐसा है कि यदि उस पर आस्था रखकर मनुष्य चले, तो कभी भी उसके हाथों प्रमाद नहीं होगा, अर्थात् भूल, गलती, दोष नहीं होगा। इसलिए वह उस पर आँख मूँदकर चले या दौड़े, तो भी किसी प्रकार उसका पतन होनेवाला ही नहीं।

बापू से इतना सुन्दर, सरल मार्ग हमें मिला है। हम सर्वोदय-समाज कायम करने की आशा पालते हों, तो इस मार्ग पर चलें।

२. एक विरल महापुरुष

परमेश्वर की हिन्दुस्तान पर बहुत कृपा रही है। अनादि-काल से लेकर आज तक अनेक महापुरुष यहाँ हुए हैं और यहाँ के जीवन को कमोवेश समृद्ध करते रहे हैं। इन महापुरुषों की अन्तिम कड़ी के रूप में और भविष्य में आनेवाले महापुरुषों में प्रथम गिने जानेवाले गांधीजी थे। भूतकाल में महापुरुषों ने हमें जो कुछ दिया, उसका सार हमने गांधीजी में पाया और भविष्य में जो असंख्य महापुरुष परमेश्वर भेजनेवाला है, उनके बीज भी गांधीजी में मिले। पहिले के प्रयत्नों का फल मिला और आगे की आशाओं का बीज मिला। इस तरह एक सन्धि-काल में वे आये और उनके जीवन में भूत और भविष्य की कड़ी जुड़ गयी। प्रत्येक महापुरुष के बारे में ऐसा नहीं कहा जा सकता। हरएक की अपनी-अपनी विशेषता तो होती ही है, लेकिन महापुरुषों में भी पुरातन परम्परा का फल और नूतन परम्परा का बीज जिनके जीवन में एकत्र हो गया हो, ऐसे तो विरले ही होते हैं। ऐसे विरल महापुरुषों में से गांधीजी एक थे।

विचार-प्रवर्तक युग-पुरुष

गांधीजी एक सत्पुरुष थे, यह तो सभी मानते हैं। लेकिन सत्पुरुष होने के अलावा वे एक नये विचार के प्रवर्तक भी थे। उन्होंने एक नया जीवन-विचार दिया। ऐसा नया विचार सभी सत्पुरुषों द्वारा प्रकट नहीं होता। जिस सत्पुरुष का गठन एक खास परिस्थिति में होता है, उसके मन में नया विचार पैदा होता है। हृदय तो सभी सत्पुरुषों का एक-सा होता है, लेकिन

हरएक की बुद्धि और प्रतिभा अलग-अलग होती है। जिसकी प्रतिभा की जिस काल में अधिक आवश्यकता होती है, वह सत्पुरुष उस काल का युग-प्रवर्तक वन जाता है। गांधीजी ऐसे ही युग-प्रवर्तक सत्पुरुष थे।

सामान्य धर्म-प्रचार और क्रांति दोनों अलग-अलग वातें हैं। सामान्य धर्म का बोध तो ऋषि और सन्त हमेशा देते रहते हैं, लेकिन जव युग की माँग और सन्त के उपदेश का संयोग होता है, तव 'क्रान्ति' होती है। सर्वसामान्य धर्म का प्रचार एक वात है और जमाने को किस वात की जरूरत है, यह परखकर उसके साथ धर्म-विचार जोड़ देना दूसरी वात। अन्दर का धर्म-विचार का वल और वाह्य परिस्थिति का बल, दोनों को जो जोड़ दिखाता है, वह केवल 'धर्म-पुरुष' या सत्पुरुष नहीं रह जाता, वल्कि युग-पुरुष वन जाता है। गांधीजी ऐसे ही युग-पुरुष थे।

स्मृतिकार की कोटि के समाज-शास्त्रज्ञ

गांधीजी एक ऐसे व्यापक विचारक हो गये हैं कि वे लगभग स्मृतिकारों की कोटि में आते हैं। किसीने इनकी तुलना ईसा के साथ की है, तो किसीने तिलक के साथ। मेरे मत में इनकी तुलना स्मृतिकारों के साथ हो सकती है। जिनका व्यापक विचार जीवन के सारे पहलुओं को स्पर्श करता है, उन मनु और याज्ञ-वल्क्य के साथ उनको रख सकते हैं। वे एक समाज-शास्त्रज्ञ थे।

फिर भी मनु और गांधीजी में अन्तर है। मनु चिन्तनप्रधान थे, तो गांधीजी सेवाप्रधान। गांधीजी 'एक्टिविस्ट' —कर्मप्रधान थे। गांधीजी ने जो प्रभाव डाला, वह प्रत्यक्ष है और परोक्ष भी। उनकी खूबी यह थी कि वे अपने ग्रन्थों की अपेक्षा बहुत बड़े थे, जब कि जीवन की दृष्टि से शेक्सपियर और मिल्टन अपने ग्रन्थों की अपेक्षा छोटे थे। गांधीजी का जीवन खूब ऊँचा, भला और उन्नत था। 'एक्सप्रेशन'—विचार प्रकट करने में वे कमजोर

थे। इस कारण उनके ग्रन्थों की अपेक्षा उनके जीवन में अधिक प्रतिभा थी।

महापुरुषों की अग्रगामी प्रतिभा

शंकराचार्य महान् पुरुष हो गये। रामकृष्ण परमहंस भी महान् थे। इन लोगों ने भी जीवन के अनेक क्षेत्रों में कुछ-न-कुछ सिखाया और लोगों के जीवन में परिवर्तन लाया। लेकिन वे सूर्यनारायण की तरह दूर रहकर प्रकाश देते थे। हमें सूर्य की किरणों से स्वास्थ्य मिलता है। लेकिन शरीर के किसी भाग में सूजन आ जाय और सेंक करना हो तो उससे लाभ नहीं होगा। उसके लिए तो अग्नि ही चाहिए, जो नजदीक आकर दास बनकर हमारी सेवा करती है। सूर्यनारायण आपका गुरु बनता है, दास नहीं। वह प्रकाश देगा और उस प्रकाश में आपको अपनी बुद्धि के अनुसार काम करना है। वह आपका मार्गदर्शक बनता है, सेवक नहीं। फिर भी सूर्यनारायण न होता, तो अग्नि में जो शक्ति है वह भी न होती, यह उतना ही सच है।

आध्यात्मिक प्रतिभा अन्दर से ही उगती है, इसलिए एक महापुरुष की तुलना दूसरे महापुरुष के साथ नहीं हो सकती। कौन ऊँचा और कौन नीचा, ऐसा विचार करने में कोई सार नहीं। प्रत्येक की अपनी अलग प्रतिभा होती है। हम तो केवल महापुरुषों के भिन्न-भिन्न प्रकारों के बारे में बात ही कर सकते हैं।

करुणा और वात्सल्य से प्रेरित

कुछ महापुरुष करुणावान् और वत्सल होते हैं। उनमें ज्ञान छिपा रहता है और करुणा प्रकट होती रहती है। गांधीजी इसी प्रकार के महापुरुष थे। करुणा और वात्सल्य से प्रेरित होकर वे अन्त तक लोगों का काम करते रहे। प्रत्येक उन्हें अपना आदमी मानता, क्योंकि वे सामान्य आदमी के साथ उसकी

भूमिका पर रहकर बात करते थे। किसीका पेट दुखता तो गांधीजी इलाज बताते। पति-पत्नी के बीच अनबन हो गयी, तो वे गांधीजी के पास सलाह लेने पहुँच जाते। अपने सभी महत्त्व के कामों के बीच भी समय निकाल वे उन सब विषयों में रस लेते और प्रत्येक को समुचित सलाह देते थे। माँ की तरह वे बातचीत करते, विचार करते, इसीलिए लोग उनके पास बेधड़क दौड़े जाते। ऐसी उनकी करुणा प्रकट रूप में विलसती थी।

बालकों को वे अपने जैसे बालक ही लगते। बहनों को लगता कि वे हमारी एक बहन ही हैं। इस तरह बहनें खुले मन से उनसे बातें कर पातीं। हरएक को यही लगता कि वे अपने परिवार के आदमी हैं।

हम सब निकट के लोग गांधीजी को 'बापू' नाम से पुकारते। बाद में तो सारा देश ही उन्हें 'बापू' कहने लगा और अन्त में 'राष्ट्रपिता' कहा। लेकिन मैं जब भी बापू के बारे में सोचता हूँ, मुझे लगता है कि वे पिता की अपेक्षा माता ही विशेष थे। हमारे यहाँ कहा ह : **सहस्रं तु पितॄन् माता गौरवेणातिरिच्यते**—गौरव में हजार पिता की अपेक्षा एक माता श्रेष्ठ है। बापू में पितृत्व की तरह मातृत्व भी प्रकट होता था। हम जब भी उनका स्मरण करते, उनके दूसरे अनेक गुणों की अपेक्षा उनका वात्सल्य ही सबसे अधिक याद आता है। उनके वात्सल्य का अनुभव उनके समीप रहनेवालों को भी हुआ और दूर रहनेवालों को भी। उनके सारे गुणों में उनकी 'वत्सलता' और 'करुणा' मुख्य थी।

इस तरह हमने बापू में पुरातन परम्परा के फलरूप और नूतन परम्परा के बीज-रूप महापुरुष के, एक विचार-प्रवर्तक युगपुरुष के, एक स्मृतिकार कोटि के समाज-शास्त्रज्ञ के, एक करुणावान् वत्सल माता-समान महापुरुष के दर्शन किये। ऐसे महापुरुष के सान्निध्य में रहने को मिला, यह हमारा परम सद्भाग्य है।

●

३. रूप से नाम बड़ा

हमारे देश में विभूति-पूजा चलती है। बात-बात में महापुरुष को दिव्य स्वरूप में देखने की हमारी आदत ही पड़ गयी है। गांधीजी का भी ऐसा ही दैवीकरण करने की कोशिश हो रही है। बहुत-से लोग उनका इस तरह गुणगान करते हैं, मानो वे भगवान् ही थे। उनको राम और कृष्ण की कोटि में डाल देते हैं। यह ठीक नहीं है।

मानव-देह में एक आकांक्षा रही है कि भगवान् के गुणों का साक्षात्कार इस शरीर में हो। इसलिए कोई महापुरुष अवतार-स्वरूप हुआ तथा पूर्ण ब्रह्म और साक्षात् ब्रह्म मानवरूपधारी बना, ऐसा मानना हमारे लिए उपासना का एक आधार बनता है। इस दृष्टि से उसका मूल्य भी है। लेकिन ऐसा आधार तो हमें राम और कृष्ण में काफी मिल चुका है। अब तीसरे की जरूरत ही क्या है?

अब दूसरों को राम और कृष्ण की कोटि में रखने में कोई लाभ नहीं, हानि ही होगी। नये-नये मनुष्यों को अतिमानव बनाने का नये सिरे से प्रयत्न होगा। ऐसा होने पर वे सब पुराण-काल से अनेक कवि-कल्पनाओं से समृद्ध राम और कृष्ण के चरित्रों की कोटि में टिकने योग्य न बन पायेंगे। उनकी तुलना में ये फीके पड़ेंगे। सिवा इसके, विज्ञान के जमाने में ऐसा प्रयत्न हास्यास्पद भी होगा। 'भारत को स्वतंत्र करने के लिए भगवान् का जन्म हुआ' ऐसा कहकर हम गांधीजी का चरित्र लिखने बैठेंगे, तो यह भागवत की हास्यास्पद नकल करने जैसी बात होगी। भागवत जैसे निरंतर पढ़ा जाता है, वैसे यह निरंतर

नहीं पढ़ा जायगा, बल्कि वह हास्यरस ही पैदा करेगा—'क्विगझोटिक' या शेखचिल्लीपन हो जायगा।

उन्हें मानव ही रहने दें

इसलिए गांधीजी के प्रति हम ऐसी मूढ़ भक्ति न रखें। वे एक मानव थे और मानव ही रहने चाहिए। उन्हें वैसा रहने देने में हमारा ही लाभ है। ऐसा करने से एक सज्जन का चित्र हमारे सामने रहेगा और आज जिसकी खूब आवश्यकता है, ऐसा नैतिक आदर्श संसार को मिलेगा। इसके बदले उन्हें देव बना देंगे, तो उससे देवों का तो कोई फायदा होनेवाला नहीं, बल्कि हम मानवता का एक आदर्श खो बैठेंगे। भक्तिभाव के लिए हमारे पास चाहे जितनी सामग्री पड़ी है। उसके लिए नये देव की नहीं, जीवन-शुद्धि के एक पवित्र दृष्टांत की जरूरत है। नीति के पुराने दृष्टांत नये जितना काम नहीं देते। बापू के रूप में हमें ऐसा नया दृष्टांत मिला है। उन्हें देव बना देंगे तो हम घाटे में रहेंगे और लाभ कुछ नहीं होगा। अनेक सम्प्रदायों के बीच एक सम्प्रदाय और पैदा करेंगे और उससे हम क्या पायेंगे? इससे बेहतर है कि हम गांधीजी को भगवान् की कोटि में न बैठायें। उन्हें देव बना देने के बदले आदर्श मानव ही रहने दें।

बड़ी खुशी की बात है कि गांधीजी जैसे इतने बड़े महापुरुष हमारे लिए हो गये। फिर भी भगवान् की कृपा है कि वे अलौकिक पुरुष पैदा नहीं हुए। शुकदेव जन्म से ही ज्ञानी थे। कपिल महामुनि जनमते ही माँ को उपदेश देने लगे। शंकराचार्य आठ वर्ष की उम्र में वेदाभ्यास पूरा करके भाष्य लिखने लगे। लेकिन गांधीजी ऐसी कोटि में पैदा नहीं हुए। वे सामान्य मानव थे और इस जीवन में उन्होंने जो कुछ प्राप्त किया, अपनी प्रत्यक्ष साधना और सत्यनिष्ठा से किया।

इसलिए उनका जीवन हमारे लिए अधिक अनुकूल पड़ेगा, अनुसरण करने योग्य ठहरेगा।

एक बार एक भाई ने मुझसे पूछा कि उन्हें 'गांधी' कहा जाय या 'गांधीजी' ? मैंने कहा : आप यदि उन्हें व्यक्ति मानते हों, एक पूज्य पुरुष के रूप में देखते हों, तो 'गांधीजी' कहिये। लेकिन यदि उन्हें विचार मानते हों, तो 'गांधी' कहना चाहिए। तब तो 'गांधी था' इस तरह बोलना पड़ेगा। गांधीजी मेरे लिए आज एक व्यक्ति नहीं, विचार है।

पल-पल विकसित होते रहे

यह भलीभाँति समझ लेने की बात है। अगर हम इसे नहीं समझेंगे, तो गांधी को जरा भी नहीं समझ सकेंगे। वे तो रोज-रोज बदलते, पल-पल विकसित होते रहे हैं। यह आदमी ऐसा नहीं था कि पुरानी किताब के संस्करण ही निकालता रहे। कोई नहीं कह सकता कि आज वे होते तो कैसा मोड़ लेते। उन्होंने अमुक समय अमुक बात कही थी, इसलिए आज भी वैसे काम को आशीर्वाद ही देंगे, ऐसा अनुमान लगाना अपने मतलब की बात होगी। मैं कहना चाहता हूँ कि ऐसा अनुमान लगाने का किसीको हक नहीं। **लोकोत्तराणां चेतांसि को हि विज्ञातुमर्हति**—लोकोत्तर पुरुष के चित्त की थाह कौन पा सकता है ? इसलिए गांधीजी आज होते तो क्या करते और क्या न करते, इस तरह नहीं सोचना चाहिए।

यदि हम यह नहीं समझते, तो हम गांधीजी के साथ बहुत अन्याय करेंगे। उनसे हमें एक विचार मिल गया है, ऐसा समझकर अब हमें स्वतंत्र चिन्तन करना है। यदि हम उनके विचार को उनके शब्दों और उनके कार्यों से सीमित कर डालेंगे, तो उनके साथ अन्याय कर बैठेंगे। गुजरात में जिसे 'वेदिया' कहते

हैं, वैसे 'वेदिया' अर्थात् शब्द को पकड़कर रखनेवाले हम बन जायेंगे, तो गांधीजी के साथ अन्याय करेंगे।

स्थूल छोड़ो, सूक्ष्म पकड़ो

हमें महापुरुषों के विचार ही ग्रहण करने चाहिए, उनके स्थूल जीवन को न पकड़ रखें। ऐसा एक शास्त्र-वचन भी है। उसमें कहा गया है कि हमें महापुरुषों के वचनों का चिन्तन करना चाहिए, उनके स्थूल चरित्र का नहीं। इतना ही नहीं, वचनों का भी जो उत्तम-से-उत्तम अर्थ हो सके, वही ग्रहण करें। इससे साफ है कि वचनों का जो कुछ सूक्ष्म-से-सूक्ष्म और शुद्ध-से-शुद्ध अर्थ निकलता हो, वही ग्रहण करना चाहिए। आज विज्ञान-युग में पुराणकाल का मनु और उनका यह पुराना मार्क्स नहीं चलेगा। मैं नम्रतापूर्वक कहना चाहता हूँ कि गांधी भी आज ज्यों-का-त्यों नहीं चलेगा।

तब यह प्रश्न खड़ा होगा कि क्या आप गांधीजी से भी आगे बढ़ गये ? तो हममें अत्यन्त नम्रतापूर्वक यह कहने का साहस होना चाहिए कि 'हम गांधीजी के जमाने से आगे ही हैं।' इसमें गांधीजी से आगे बढ़ जाने का सवाल ही नहीं और न ऐसा करने की जरूरत ही है। बढ़े या घटे, यह तो भगवान् तौलेगा। यह हमारे हाथ की बात नहीं। हमें उनसे बढ़ने की जरूरत नहीं। लेकिन हमारा जमाना उनके जमाने से आगे है। हमारे सामने नये दर्शन (क्षितिज) खड़े हो गये हैं। हमें यह समझ लेना ही होगा। न समझेंगे तो जो काम करने की जवाबदारी हम-आप जैसे गांधी-विचार माननेवालों पर आ पड़ी है, उसे हम निभा नहीं पायेंगे।

एकदम दगाबाज !

गांधीजी स्वयं तो इतने संवेदनशील (Sensitive) थे कि नित्य-निरंतर परिस्थिति के अनुसार झट बदलते जाते थे।

मैंने एक बार उनके बारे में एक शब्द कहा, जो कुछ लोगों को खटक गया—'दगाबाज !' एकनाथ का एक पद है। उसमें उन्होंने संतों को 'दगावाज' कहा है। कहते हैं: "संतो, आप लोग कितने दगाबाज हैं ! आज भगवान् का एक तरह से वर्णन करते हैं, कल दूसरी तरह।" इसी तरह गांधीजी के बारे में भी यही कहना पड़ेगा कि यह शख्स बिलकुल दगाबाज था। कभी भी एक शब्द से चिपका नहीं रहता था। किसीको भी ऐसा भरोसा नहीं था कि आज गांधीजी ने यह रास्ता पकड़ा है, तो कल कौन-सा पकड़ेंगे। क्योंकि वे विकासशील पुरुष थे। उनका मन सदैव सत्य के शोध के विचार में ही रहता था, अपनी वात का छोर किस तरह पकड़ रखा जाय, इसमें पिरोया नहीं रहता था। तो, मुझे कहना यह है कि गांधीजी सतत परिवर्तनशील थे। इसलिए हमें आज की परिस्थिति के अनुसार स्वतंत्र चिन्तन करते रहना चाहिए।

और ईश्वर की लीला देखिये न ! जिस समय गांधीजी की अत्यन्त जरूरत थी, अधिक-से-अधिक अनिवार्यता थी, उसी समय उसने उन्हें हम लोगों के बीच से उठा लिया। इसका मतलब क्या है ? यही कि 'आप लोग जरा निरपेक्ष रूप में विचारा करें।'

पैगम्बर गया, अल्लाह कायम है

मुझे याद आती है मुहम्मद पैगम्बर की मृत्यु की। उनकी मृत्यु हो गयी, लेकिन लोग इसे मानने को तैयार नहीं थे। पैगम्बर और वह कहीं मर सकता है ? कौन मानता ? आश्चर्य की बात है कि पैगम्बर के मरने के बाद हमारा कोई कर्तव्य हुआ करता है और उसके लिए लोगों को तैयार होना चाहिए। वे यह मानने को ही तैयार नहीं थे। कोई क्या करे ? आखिर अबु बकर मसजिद पर खड़ा हुआ। लोगों की इस पर वड़ी श्रद्धा थी। वह सदा सत्य बोलता। उसने

मसजिद पर से लोगों से कहा : "पैगम्बर गया, अल्लाह कायम है।" अबु बकर ने जब यह कहा, तब कहीं सबने माना कि सचमुच पैगम्बर चले गये।

लगभग हरएक महापुरुष के अनुयायियों के बारे में ऐसा ही हुआ करता है। महापुरुष के स्थूल चरित्र के साथ वे इतने अधिक उलझे रहते हैं कि उसकी वजह से निरपेक्ष होकर तत्काल सोच ही नहीं पाते। लेकिन आखिर तो व्यक्ति-निरपेक्ष चिन्तन तो चलना ही चाहिए। रूप की अपेक्षा नाम ऊँचा है। रूप कुछ दिनों का होता है, पर नाम सनातन है। रूप यानी व्यक्ति और नाम यानी विचार। व्यक्ति भी ऊँचा होता है, तो उसमें रहनेवाले किसी खास विचार के कारण। मतलब यह कि वह व्यक्ति उस विचार को व्यक्त करने में निमित्त बनता है। फिर भी शक्ति तो विचार में ही रहती है। हमें इसका अनुभव भी होता है। जैसे व्यक्ति का अस्तित्व कुछ अंशों में विचार के लिए मददरूप होता है, वैसे ही उससे विचार को हानि भी पहुँचती है। व्यक्ति के चले जाने के साथ शुद्ध विचार शेष रह जाता है।

इसीलिए तुलसीदासजी ने कहा है कि 'राम की अपेक्षा नाम बड़ा है।' मतलब यह कि एक व्यक्ति रामचन्द्र जैसा हो, तो वह जितना कर सकता है, उससे कहीं अधिक करने की शक्ति उसके नाम में है। राम ने जिन पतितों को तारा, उनकी संख्या हम गिन सकते हैं। लेकिन उनके नाम ने जितनों को तारा और आगे तारेगा, उनकी संख्या कभी नहीं गिनी जा सकती। रामजी ने तो अयोध्या नगरी को स्वर्ग बनाया, लेकिन राम-नाम ने तो प्रत्येक गाँव को अयोध्या बना दिया। गाँव-गाँव में राम-कथा चलती है : **गाँव-गाँव अस होइ अनन्दा**। राम-राज्य का चित्र तुलसीदासजी ने खींचा है :

बयरु न कर काहू सन कोई ।
रामप्रताप विषमता खोई ।।

देहधारी राम कहाँ तक पहुँचते, जब कि उनका नाम सर्वत्र फैल गया !

शब्द अविनाशी है

संत अपने जीवन-काल में जितने समर्थ होते हैं, उसकी अपेक्षा अपना जीवन पूरा करने के वाद वे कितने ही अधिक समर्थ बनते हैं। कारण, उनका स्थूल रूप नष्ट हो जाता है, उसके साथ उनकी कमियाँ भी नष्ट हो जाती हैं। फिर सम्पूर्ण शुद्ध, दिव्य अंश ही शेष रहता है। एक मनुष्य के व्यक्त किये हुए विचार उसके नष्ट हो जाने पर नष्ट नहीं हो जाते। बल्कि उन विचारों का प्रकाश अधिक उज्ज्वल हो उठता है।

देह छूट जाने पर महापुरुष अपने जीवन-काल की अपेक्षा अधिक काम करते हैं। महापुरुष देह-मुक्त बनते हैं, तो उनके विचार वातावरण में फैल जाते और सबको प्रेरणा देते रहते हैं। इन महात्माओं की आवाज सुनने के लिए जिनके हृदय में रेडियो सेट होता है, वे वातावरण से उनकी आवाज सुन सकते हैं। हवा में शब्द है। **शब्दो नित्यः**—शास्त्रकारों ने कहा है कि शब्द अविनाशी है, नित्य है। वह वातावरण में प्रसारित होता है। हमारे पास रेडियो हो, तो उसे सरलतापूर्वक सुन सकते हैं। जिसके अन्तर में उन विचारों की लहरों को पकड़ने का साधन हो, वे उसे पकड़ लेते हैं। मनुष्य को इसी तरह प्रेरणा मिलती रहती है। वापू भी इसीलिए मर गये कि मेरे और आप सबके शरीरों में प्रवेश करने की सुविधा मिले। उनका नाम, उनका शब्द, उनके विचार सतत हम सबको प्रेरणा देते रहते हैं। ●

४. सच्चा स्मारक

वापू गये और तुरत ही उनके स्मारक की वातें शुरू हो गयीं। लोग तरह-तरह के स्मारक बनाने के वारे में विचार करने लगे। एक भाई ने मुझसे पूछा : "गांधीजी के स्मारक के रूप में अशोक-स्तंभ जैसे स्तंभ खड़े किये गये होते तो कैसा रहता ?" मैंने कहा : "सामान्य जनता से जाकर पूछिये कि उसे अशोक-स्तंभों की कितनी जानकारी है ? सामान्य मनुष्य तो शायद अशोक का नाम भी न जानता होगा। इतिहास में कितने ही राजा हो गये। उनमें एक अशोक भी हुआ। अलवत्ता, वह एक महान् और दयालु राजा था। लेकिन जनता उसे कहाँ जानती है ? वह तो कबीर, नानक, तुलसीदास, मीरा को जानती है। गांधीजी का भी जनता के हृदय में ऐसा ही स्थान है। उनके स्मारक में स्तंभों की क्या दरकार है ? उनके तो विचार लेकर हमें जनता में पहुँचना चाहिए।"

गांधीजी का जीवन वहुत ही व्यापक था, जीवन की अनेक शाखाओं के साथ उनका जीवन जुड़ा हुआ था। इसीलिए तरह-तरह के स्मारक बनाने की तथा राष्ट्र की ओर से भी अमुक, ख़ास स्मारक बनाने की इच्छा हो सकती है। लेकिन इन सब स्थूल स्मारकों से सच्ची यादगार का काम पूरा नहीं होगा। उल्टे, भय है कि ऐसे स्मारकों के कारण मुख्य बात आँखों से ओझल हो जाय।

भावनाओं का उफान

कई वार ऐसा होता है कि किसी खास मौके पर भावनाओं में उफान आता है। फिर उस भावना को शान्त करने के लिए

मनुष्य कुछ काम कर डालता है, तो इससे वह उफान धीरे-धीरे वैठ जाता है। लेकिन गंभीर मनुष्य दुःख के आवेग को भीतर ही भीतर दवा देता और उससे बल प्राप्त करता है। जहाँ ऐसी गंभीरता नहीं होती, वहाँ यह आवेग रोने-कलपने अथवा आँसुओं के रूप में वाहर फूट पड़ता है। इस तरह चित्त शान्त हो जाता है।

इसी प्रकार पूज्यबुद्धि के कारण भी मनुष्य कुछ समय के लिए भावना से भर आता है और वाद में उसे वाहर व्यक्त करके शांति पाता है। ऐसे मौके पर रात-रातभर भजन करने-वाले अनेक मनुष्य मैंने देखे हैं। भजन का भी एक उफान होता है, लेकिन जीवन पर उसका कोई खास असर पड़ता ह, ऐसा दिखाई नहीं देता। भले ही उसमें सद्भाव का अंश हो, पर वह केवल उफानभर होता है और भजन उसे बाहरनिका-लने का एक साधन है। यही वात स्मारक के वारे में लागू होती है।

उन दिनों वहुतों को ऐसा भी लगता था कि हमें प्रायश्चित्त करना चाहिए। मैंने कहा : "यह प्रायश्चित्त क्या होगा ?" हमारे मन के किसी कोने में भी यह शंका रह गयी हो कि हिंसा से भी कुछ लाभ होता है, तो उस वहम को मन से निकाल देना ही उत्तम प्रायश्चित्त है। लेकिन यह कोई वोलकर बताने की बात नहीं और न वोलने मात्र से वह होने ही वाला है।" संक्षेप में, अगर हम अहिंसक जीवन जीकर नहीं बतायेंगे, तो जो भी स्थूल स्मारक खड़े करेंगे, उससे लोग हँसेंगे ही। इसलिए हम आत्म-मंथन करें। मूल बात यह कि हमारे जीवन में परिवर्तन होना चाहिए।

गाँव-गाँव को गांधी-घर बनाइये

गांधी-निधि ने कुछ गाँवों में 'गांधी-घर' बनाये हैं। लेकिन मेरा कहना तो है कि गाँव-गाँव गांधी-घर होना चाहिए। यह

गांधी-घर ईंट-पत्थर का नहीं, सत्य-प्रेम-करुणा का बनेगा। ईंट-पत्थर-चूने से तो मामूली घर बनता है, 'गांधी-घर' नहीं। लेकिन लोग ईंट-चूने से घर बनाते और उस पर लिख देते हैं—'गांधी-घर'। नाम-महिमा अपार है, इसमें शक नहीं। उससे प्रेरणा मिलती है, वह भी ठीक ही है। लेकिन असली 'गांधी-घर' इस तरह नहीं बनता। वह तो बनेगा सत्य-प्रेम-करुणा से और अब आज यही काम आयेगा।

यही देखिये, आज की नयी पीढ़ी को गांधीजी के विषय में प्रत्यक्ष कोई जानकारी नहीं है। जिन्होंने गांधीजी को देखा और उनके साथ काम किया, वे सभी १५-२० वर्षों में दुनिया छोड़कर चले जानेवाले हैं। जैसे नदी में नया-नया पानी आता और पहले का वह जाता है, वैसे ही मनुष्य भी अनेक आते और चले जाते हैं। तो, इस नयी पीढ़ी को गांधीजी का दर्शन उनके विचारों द्वारा ही करा सकेंगे न ? आज के युग के अनुरूप इन विचारों पर अमल करके बताना पड़ेगा।

नये युग के अनुरूप नया मिशन

बापू तो क्रान्तदर्शी थे, बहुत दूर का देख सकते थे, बहुत आगे का विचार रखते थे। इसलिए उन्होंने नये युग के अनुरूप नया मिशन पहले से ही सोच रखा था। उन्होंने देखा कि एक बार स्वराज्य मिलते ही 'स्वराज्य' शब्द फिर लोगों को इतनी प्रेरणा नहीं दे सकेगा, उत्साहित नहीं कर पायेगा। स्वराज्य का ध्येय आँखों के सामने था, इसी कारण लोगों में संकल्प-शक्ति पैदा हुई। उस ध्येय की सिद्धि के निमित्त पुरुषार्थ के लिए लोगों ने कमर कसी। इसी तरह स्वराज्य मिलने के बाद लोगों के समक्ष कोई व्यापक संकल्प हो, तभी उनकी शक्ति बढ़ेगी। उसके बिना लोग सुस्त हो जायँगे, उनकी शक्ति क्षीण होती जायगी।

यों, गांधीजी जानते थे कि स्वराज्य के बाद लोगों के सामने कोई नया शब्द चाहिए, नया विचार चाहिए, कोई नया ध्येय

चाहिए। अतएव पुराना ध्येय पूरा हो, इसके पहले ही उन्होंने नया ध्येय लोगों के समक्ष रख दिया। पुराना शब्द कृतार्थ होने से पूर्व ही दूसरा शब्द दे देना चाहिए, यह समझकर उन्होंने शब्द दिया–'सर्वोदय'। उन्होंने कहा कि स्वराज्य के संकल्प की सिद्धि के वाद हमारा नया संकल्प है–'सर्वोदय'।

सर्वोदय अर्थात् सर्व का उदय–मेरे अकेले का ही नहीं, सबका। जव तक सर्वोदय नहीं होता, तव तक शोषण कायम रहता है, शासन की पकड़ कायम रहती है। इसलिए स्वराज्य भी यथार्थ रूप में लाने के लिए सर्वोदय की आवश्यकता है। इसलिए आज के युग के अनुरूप यह सर्वोदय-मिशन गांधीजी हमारे सामने रख गये हैं। यह मिशन पूरा करके ही हम नयी पीढ़ी को गांधीजी का सही दर्शन करा सकेंगे।

सर्वोदय का यह संकल्प देश में धीरे-धीरे जाग रहा है। इस प्रकार के संकल्प एकदम नहीं जागते। खासकर, जब त्याग करने का संकल्प जगाना हो तो थोड़ा समय लगता ही है। जो विचार चिरकालीन महत्त्व के होते हैं, वे धीरे-धीरे उगते हैं, जब कि जो चिरकालीन नहीं होते, वे घास की तरह उगते हैं और वैसे ही जल्दी-जल्दी क्षीण भी हो जाते हैं। बापू का वोया हुआ विचार-बीच आज अंकुरित हो रहा है। आज जरूरत है, सातत्यपूर्वक काम करके उसे पोषित करते रहने की। यह सर्वोदय का संकल्प जब देश-व्यापी हो जायगा, तब लोगों को उसका चमत्कार दिखायी देगा और तभी कहा जा सकेगा कि हमने बापू का सच्चा स्मारक खड़ा किया। ●

५. आज के जमाने का ब्रह्म

सर्वोदय-विचार इतना व्यापक है कि हम उसका अमल करने की कोशिश मात्र कर सकते हैं। पूरा अमल तो हो नहीं सकता। सर्वोदय के पूरे अमल के लिए तो परमेश्वर के दर्शन की जरूरत है।

बापू स्वयं कहते थे कि मेरा संपूर्ण जीवन, साधन सत्याग्रह वगैरह कार्य परमेश्वर की खोज के लिए है। आमतौर से ईश्वर की खोज करनेवाले एकांत में जाते हैं। बापू एकांत में नहीं गये। लोगों के बीच रहकर ही उन्होंने काम किया। हाँ, ध्यान, प्रार्थना आदि के लिए १५-२० मिनट निकालते थे। लेकिन वे कहते कि "ध्यान हमारे काम में हर क्षण होना चाहिए और एकांत तो जनता के बीच काम करते-करते हर क्षण मिलना चाहिए।"

एकांत में जाते हैं तो हमारा मन भटकता है। यह कैसा एकांत है? सही एकांत तो वह है, जहाँ हम मन से अलग हो जाते हैं। अतः मन से अलग होकर बापू जन-सेवा में हमेशा एकान्त का अनुभव करते और कहते थे कि 'ईश्वर की खोज और दर्शन के लिए मेरा जीवन है।'

'संसार में जुते रहें और मन मेरे पास'

ईश्वर-दर्शन का मतलव क्या है? ईश्वर की खोज कैसे हो? ईश्वर गुणमय है। सत्य, प्रेम, करुणा आदि मंगल-गुणों की परिपूर्णता ही ईश्वर है। ईश्वर का एक-एक अंश भिन्न-भिन्न रूप में एक-एक मनुष्य में प्रकट हुआ है। इसलिए सर्वत्र

गुण-दर्शन होना चाहिए। इस तरह ईश्वर का एक-एक अंश देखने को मिलेगा और इस प्रकार गुण-ग्रहण करते-करते हृदय गुण-भंडार बनेगा, तब ईश्वर का परिपूर्ण दर्शन होगा।

हमारे ये दान, सेवा, त्याग, सत्याग्रह आदि सभी कार्यक्रम भगवान् की अव्यक्त शक्ति के दर्शन के लिए हैं। सत्याग्रह में हम क्या करते हैं ? सुख-दुःख सहन करते और सामनेवाले में जो सद्अंश होता है, उसे बाहर लाते हैं। सत्याग्रह में ऐसी श्रद्धा होती है कि सामने सद्अंश है ही। यही है गुण-दर्शन। इसी गुण-दर्शन के आधार पर ही तो सत्याग्रह है। इस गुण-दर्शन की श्रद्धा पर तो दान का कार्यक्रम चलता ह। सारे सर्वोदय का कार्यक्रम गुण-दर्शन पर आधारित है। यह गुण-दर्शन होगा तो ईश्वर का दर्शन होगा। पूर्ण अंश का दर्शन एकदम तो नहीं हो जाता। आज एक अंश का दर्शन होगा, कल दूसरे का। जब तक यह देह है, तब तक प्रयत्न चलता रहेगा। इसीलिए तो बापू कहते थे कि 'मेरी खोज चल रही है। इस खोज के लिए ही जीवन है।' इस तरह बापू के सारे कामों के पीछे आध्यात्मिक भूमिका थी।

उनकी सत्ता सारे हिन्दुस्तान पर चलती थी। लेकिन यह सत्ता नैतिक थी, दूसरी कुछ नहीं। प्रत्येक देश की अपनी कुछ विशेषता होती है। हमारे देश की विशेषता यह है कि वह महापुरुषों की ही सत्ता मानता है। बड़े-बड़े राजा-महाराजा, सेनापति और सेठ-साहूकारों से लोग कभी-कभी भय खाते हैं। बावजूद इसके देश ने कभी इनके अनुसार अपना आचरण नहीं रखा। लोग उनके नाम तक याद नहीं रखते। लोगों के हृदय पर उनकी सत्ता नहीं चलती। भारतीय लोक-हृदय पर अगर किसीका प्रभाव पड़ता है, तो एकमात्र महापुरुषों का ही। यहाँ के लोग शंकर, बुद्ध, महावीर, नानक, कबीर को याद करेंगे, लेकिन अकबर, अशोक को भूल जायँगे। गांधीजी आये और

लोगों ने उनकी बात मानी। कारण, उन्होंने देखा कि गांधीजी का चरित्र महापुरुषों के चरित्र जैसा है। उनके काम की नींव अध्यात्म है।

स्थूल झमेले में असली स्वरूप भूलते न थे

गांधीजी को समझने के लिए यह बात ध्यान में रखना बहुत जरूरी है। नहीं तो स्थूल प्रवृत्ति के झमेले के बीच गांधीजी का असली स्वरूप नजर में न आयेगा। गांधीजी हमेशा इस बात पर जोर देते थे कि चाहे जो काम करो, उसमें 'प्यूरिफिकेशन ऑफ हार्ट'—हृदय की शुद्धि होनी चाहिए। यह काम करते-करते मुख्य रूप से हृदय-शुद्धि और चित्त-शुद्धि करते रहना चाहिए। अगर हृदय शुद्ध नहीं होगा, तो गाय कैसे बचेगी, किसान के हृदय में कैसे प्रवेश होगा, खादी कौन पहनेगा ? इसलिए एक-एक काम के साथ हृदय-शुद्धि की बात जुड़ जानी चाहिए, ऐसा गांधीजी बार-बार जोर देकर कहते थे। हमारे देश में रामकृष्ण-मिशन ने पहली ही बार अद्वैत से प्रेरित होकर पूर्ण प्रेममयी सेवा का आरम्भ किया। इसी प्रकार गांधीजी ने पहली बार भक्ति-मार्ग के स्वरूप में समाज की सेवा शुरू की। रामकृष्ण के शिष्यों ने सेवा में अद्वैतमार्गी प्रेम का प्रकर्ष प्रकट किया तो गांधीजी ने परमेश्वर की भक्ति का सरल सार मानव-सेवा में ही सिखा दिया।

इस तरह बापू के मत में कर्म एक उपासना थी। स्थूल क्रिया का उनके सामने अधिक महत्त्व नहीं था, उसके पीछे की भावना का था। बाहर से वे हमेशा स्थूल कामों में डूबे दिखते थे। लेकिन उस सारी खटपट से वे जल-कमलवत् अलिप्त थे। एक बार गांधीजी ने किसी काम के बारे में मुझसे पूछा, तो मैंने जवाब दिया कि "मुझे नहीं लगता कि इसका बहुत अधिक परिणाम आयेगा।" तब वे हँसते हुए बोले : "देखो विनोबा, यह योग्य

है या अयोग्य, इतना ही हमें देखना है। बाकी मैं मानता हूँ कि अपने कुल काम का परिणाम शून्य है।" यह कहकर उन्होंने हवा में अपने हाथ से शून्य बनाकर बताया। इस दुनिया में ईश्वर के सिवा दूसरी कोई हस्ती नहीं है। हम तो अपने सन्तोष के लिए काम करते हैं। बाकी परिणाम की दृष्टि से देखा जाय तो हमारी सारी क्रियाओं का परिणाम शून्य है। इस शून्य में ही बापू की आध्यात्मिक बैठक थी।

इसीलिए बापू ने हमारे सामने कितनी ही ऐसी बातें पेश कीं, जो केवल आध्यात्मिक क्षेत्र में आती हैं, दूसरे क्षेत्र में नहीं। अहिंसा, सत्य, अस्तेय आदि पाँच धर्मों के साथ उन्होंने दूसरी कई बातें जोड़कर एकादश व्रत हमारे सामने रखे। यह कोई नयी कल्पना नहीं, पुरानी ही है। सत्य, अहिंसा आदि कोरे शब्द ही नहीं, सब धर्मों का निचोड़ है। मानव-जीवन की प्रतिष्ठा के लिए जितना कुछ आध्यात्मिक चिन्तन किया गया है, उस सारे चिन्तन का सार, मूलभूत पाँच व्रतों में हमारे पूर्वजों ने रख दिया है। उसे हमने 'पंच महाव्रत' कहा। पतंजलि के शास्त्र में वह 'यम-नियम' नामों से पहचाने गये। बुद्ध, महावीर, हिन्दू, वैदिक आदि सभी ने उन्हें मान्य किया था।

व्यवहार और साधना का समन्वय

इस प्रकार व्रत-पालन की यह कल्पना नयी नहीं है। लेकिन समाज-सेवा के लिए व्रत-पालन जरूरी है, यह बात बापू ने सर्वप्रथम कही। आध्यात्मिक उन्नति के लिए ये यम-नियम जरूरी हैं, ऐसा पहले माना जाता था। योगी, साधक वगैरह आध्यात्मिक विकास के लिए मथनेवाले लोग उनका पालन करते थे। लेकिन ये यम-नियम समाज-सेवा के लिए जरूरी हैं, इनके बिना समाज-सेवा नहीं हो सकती, बल्कि असेवा होगी, यह दृष्टि पहले-पहल बापू ने ही दी। उन्होंने यहाँ तक कह दिया कि सत्य और स्वराज्य दोनों में से

कोई एक पसंद करना हो, तो मैं स्वराज्य छोड़कर सत्य को स्वीकार करूँगा। यह बात उन्होंने उस युग में कही, जब कि स्वराज्य की भूख तीव्रतम थी। उन्होंने तो कह ही दिया कि सत्य द्वारा ही स्वराज्य मिलेगा। इसमें उनकी प्रतिभा का दर्शन होता है।

आज तक सेवा करनेवाले जो अलग-अलग संगठन थे, वे समाज की तरह-तरह से सेवा करते थे। सेवा के लिए कुछ गुण होने चाहिए, ऐसा तो लोग मानते आये हैं, पर आज तक किसीने यह नहीं माना था कि देश-सेवा के लिए सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य आदि की जरूरत है। इससे उल्टे, जिन लोगों ने कहा कि इन व्रतों की व्यक्तिगत क्षेत्र में जरूरत है—जैसे ध्यानयोग के क्षेत्र में, व्यक्तिगत विकास के क्षेत्र में—उन्होंने सेवा का नाम तक नहीं लिया। इन सिद्धान्तों के आधार पर मानव-समाज की नवरचना का ठीका उन्होंने कभी नहीं लिया, अथवा इस नींव पर सामाजिक क्रान्ति की शुरुआत होगी, ऐसा दावा भी उन्होंने कभी नहीं किया। उन्होंने माना कि ब्रह्मचर्य जरूरी है। उन्होंने उसका प्रयोग किया और पालन भी किया। लेकिन सामाजिक क्षेत्र में उसका विनियोग करना है, ऐसा किसीके कहने पर भी किसीने भी नहीं माना। फिर, बोधवादी, धर्मवादी, भक्तिमार्गी, ज्ञानमार्गी आदि सबने यम-नियमों का महत्त्व अपनी-अपनी सुविधा के अनुसार माना है। उन्होंने यम-नियमों में अनेक अपवाद खड़े कर उन्हें ऐसा बना दिया, जैसे किसी चीज में पानी मिलाकर सुपाच्य बना लेते हैं।

इस प्रकार समाज-सेवकों ने तो इन व्रतों का नाम तक नहीं लिया, और जिन्होंने इसकी महिमा गायी, उन्होंने लोक-क्रांति अथवा समाज को नया आकार देने की बात कभी नहीं की। इससे एक 'स्प्लीट पर्सनालिटी' (विच्छिन्न व्यक्तित्व) चलती

रही। व्यक्तिगत शुद्धि के लिए एक विचार और सामाजिक शुद्धि के लिए दूसरा विचार। लेकिन इन दोनों का समन्वय कर दिखाया गांधीजी ने। समाज-सेवा, राजनीति, रचनात्मक कार्यक्रम, लोक-संगठन, लोक-शिक्षण आदि अनेक बाह्य कार्यों के साथ सत्य, अहिंसा आदि जरूरी है, यह कहने की पहल गांधीजी ने की। उन्होंने कहा कि "सत्य, अहिंसा आदि बुनियादी चीजें हैं और उन्हींकी आधारशिला पर ही समाज का उत्थान किया जा सकता है, समाज-सेवा के लिए वे अनिवार्य हैं और जन-सेवा की वे कसौटी भी हैं।" इस तरह गांधीजी की विशेषता यह मानी जायगी कि सामाजिक, राजनैतिक समस्याओं के हल के लिए उन्होंने आत्मिक शक्ति का उपयोग कर दिखाया। व्यक्तिगत जीवन में आत्मबल सफल होता है, यह तो समाज ने भलीभाँति देख लिया है। लेकिन सामाजिक क्षेत्र में व्यापक परिणाम में भी इस शक्ति का उपयोग किया जा सकता है, यह गांधीजी ने बताया।

सामूहिक साधना का मिशन

सत्य अथवा दूसरा कोई भी गुण पहले व्यक्ति में प्रकट होता है, जैसे कि विज्ञान का प्रयोग पहले 'लेबोरेटरी' (प्रयोगशाला) में होता है। व्यक्ति का जीवन एक लेबोरेटरी है। उसमें प्रयोग सफल हो, तो उसे समाज में व्यापक परिमाण में लागू करना चाहिए। गुण-विकास का जो प्रयोग व्यक्ति के जीवन में सफल हुआ, उसे समाजव्यापी बनाना चाहिए। व्यापक सत्य, व्यापक प्रेम, व्यापक करुणा—गांधीजी इस कार्य में लग गये। इसीसे वे कहते कि "मैं अपूर्ण हूँ। केवल व्यक्तिगत प्रयोग से समाधान पा लेना होता, तो वह कभी का पूरा हो जाता। लेकिन जहाँ सामाजिक प्रयोग करना है, वहाँ हमारे भाग्य में अपूर्णता ही रहनेवाली है। हमारे बाद आनेवाले अधिक पूर्णता लायेंगे।

इनके पीछे आनेवाले उससे ज्यादा पूर्णता लायेंगे। इस तरह होते-होते कभी-न-कभी पूर्ण दर्शन होगा।" गांधीजी ने सामूहिक साधना का यह विचार हमारे समक्ष रखा और स्वयं जीवनभर उसका प्रयोग किया। सर्वोदय का जो नया मिशन उन्होंने हमारे समक्ष रखा है, वह ऐसी ही सामूहिक साधना का मिशन है।

जिस-जिस जमाने में जो भावना मुखरित होती है, उस-उस जमाने का वह ब्रह्म है। युग-युग में ब्रह्म बदलता रहता है। एक समय हमारे सामने 'स्वराज्य' का ब्रह्म था, आज 'सर्वोदय' का ब्रह्म है। इस तरह युग के अनुसार भिन्न-भिन्न ब्रह्म हमारे सामने आये हैं। वेद में कहा गया है : **अचित्तं ब्रह्म जुजुषुः युवानः**—जवानों को अनदेखे को देखने में, अथाह की थाह लेने में मजा आता है। आज तक जिसका चिन्तन किसीने न किया हो, वैसा ही ब्रह्म युवकों को पसन्द आता है। वे नया ब्रह्म चाहते हैं, पुराना ब्रह्म उन्हें पसन्द नहीं। नया ब्रह्म पैदा होता है, तो लोग उसके लिए नयी तपस्या करते हैं। आज के जमाने के लिए ऐसा नया ब्रह्म गांधीजी हमें सुझाते गये हैं और वह है, सर्वोदय।

६. न त्वहं कामये राज्यम्

भारतीय संस्कृति में जो आंतरिक ताकत थी, उसे रोज-रोज के खुले व्यवहार के क्षेत्र में प्रकट करने का मौका गांधीजी को मिला। उन्होंने स्वराज्य-प्राप्ति के कामों को भी मानव-सेवा का रूप दिया। राजनीति पर भी धर्म और अध्यात्म का रंग चढ़ाया। इससे वह केवल एक राजनैतिक आन्दोलन नहीं रहा। उसमें ऐसे असंख्य लोगों ने भाग लिया, जो राजनीति के जीव नहीं थे। बापू स्वयं भी कभी राजनीतिक जीव नहीं थे। मृत्यु के क्षण तक उन्हें राजनैतिक विषयों में भाग लेना पड़ा, लेकिन उनके लिए तो वह सारा उनकी व्यापक साधना का, उनकी सत्य की खोज का एक अंग ही था।

राजनीति में तो सत्य-बल चलता ही नहीं। ऐसी जो रूढ़ मान्यता थी और जो शायद आज भी है, उसका गांधीजी ने तीव्र विरोध किया। उन्होंने कहा कि सत्य-निष्ठा जितनी धर्म या पारमार्थिक साधना के लिए जरूरी है, उतनी ही दुनियादारी के व्यवहार में भी जरूरी है। जीवन के दो भाग नहीं हो सकते। इसलिए वे पहले से ही सत्य के आधार पर सेवा करते-करते आगे बढ़ते गये। वे हमेशा ध्यान रखते कि मुँह से ऐसा कोई शब्द न निकले, जो असत्य हो, विचारपूर्वक न बोला गया हो, जो सत्य की कसौटी पर खरा न उतरे। राजनीति का व्यवहार उन्होंने सतत किया, लेकिन उस दरमियान वाङमय तप का जो आदर्श उन्होंने सामने रखा, वह अनुपम ही है।

सत्य-निष्ठा का अनुपम आदर्श

राजनीति में गांधीजी को जो सफलता मिली, उसका कारण यही है कि उनकी राजनीति सत्य पर आधारित थी, जब कि

सामनेवालों की असत्य पर। सत्य के सामने असत्य टिक नहीं सकता। ऐसी वात नहीं कि गांधीजी दूसरों से अधिक कुशल थे। लेकिन उनके पास सत्य था और सत्य ही सवसे अधिक कुशल होता है। अपनी कुशलता की ऐंठ में लोग असत्य आचरण करते हैं, लेकिन अंत में वे कुशल सावित नहीं होते। सच पूछें तो कुशलता सत्य पर चलने में ही है। ऐसा करने से हम सव तरह से सुरक्षित रहते और सव खतरों से वच जाते हैं।

सत्यवादी मनुष्य के शब्दों पर दुनिया को और शत्रु को भी विश्वास होता है। गांधीजी के जमाने में यह एक वहुत वड़ी वात हो गयी कि लोगों को गांधीजी के शब्दों पर कम-से-कम इतना विश्वास तो वैठ ही गया था कि उनके विचार भले ही स्वीकार करने लायक हों या न हों, लेकिन वे जो कहते हैं, दिल से कहते हैं। उनके शब्दों में दोहरे अर्थ नहीं होते। जो प्रकट होता है, वही उनके मन में भी होता है। ऐसी श्रद्धा गांधीजी के वारे में हिन्दुस्तान के लोगों के दिल में पैदा हुई, और इसी श्रद्धा से हिन्दुस्तान आगे वढ़ा।

गांधीजी के बोल पर जनता का विश्वास

गांधीजी के आने से पहले अच्छे-अच्छे नेता हिन्दुस्तान में थे, जिन्होंने आजादी की तरफ जनता का ध्यान खींचा। लेकिन इन सव नेताओं के प्रति लोगों का ऐसा पक्का विश्वास नहीं था कि वे जो कुछ बोलते हैं, वही उनके मन में है। लोगों में ऐसी मान्यता थी कि राजनीति में तो नेता हमेशा द्व्यर्थक ही बोलते हैं। लेकिन गांधीजी के आते ही नयी पद्धति शुरू हो गयी। जो मन में हो, वही वोलना उन्होंने शुरू किया। इसलिए गांधीजी के प्रति धीरे-धीरे लोगों का ऐसा विश्वास जमता गया कि यह आदमी जो हृदय में होगा, वही ओठों पर लायेगा। इस कारण

गांधीजी का शब्द बलवान् साबित हुआ और शब्द के पराक्रम से ही उनका सारा पराक्रम हुआ।

मुझे याद है कि रौलट-कानून के खिलाफ आन्दोलन चल रहा था तो बापू को पंजाब जाते हुए रोक दिया गया। पंजाब में उस समय दंगे हुए और सारे देश की जनता में क्रोधाग्नि भड़क उठी। अहमदाबाद में भी लोगों ने मारपीट और तोड़-फोड़ शुरू कर दी। कितने ही घर जला दिये गये। यह सब देखकर गांधीजी को बहुत दुःख हुआ। यह सब अहिंसा के मार्ग से बिलकुल विपरीत था।

उस समय मैं साबरमती-आश्रम में था। मेरी उम्र लगभग पचीस वर्ष थी। हम कुछ साथी अहमदाबाद शहर में और गाँव में गये और लोगों को समझाने लगे कि "भाई, आपने यह जो कुछ किया है, वह सब गांधीजी को पसंद नहीं। उन्हें इससे दुःख होता है। गांधीजी आपसे ऐसा काम करने के लिए नहीं कहते। गांधीजी की ऐसी इच्छा कभी नहीं हो सकती कि घर जला दिये जायँ और उनके नाम पर हिंसा की जाय। उन्होंने यह सब करने के लिए क्या आपसे कभी कहा है?"

तब लोग हमें जवाब देते कि "अरे, आप अभी बालक हैं बालक! आप क्या समझें? गांधीजी क्या कहते हैं, यह आप हमें समझाने आये हैं? अरे, धर्मराज क्या बोलता है, वह तो भीम जाने भीम! युधिष्ठिर तो सीधा बोलेगा। लेकिन उसके बोलने का क्या अर्थ है, वह तो भीम जानता है।"

मतलब यह कि तब तक ऐसा माना जाता था कि राज-नैतिक नेता के कथन का अर्थ दूसरा ही करना होता है। उत्तम राजनैतिक नेता वह है, जिसके शब्दों के अनेकविध अर्थ निकलें। मन में एक अर्थ हो और प्रकट हो दूसरा अर्थ। लोगों की मान्यता थी कि जो नेता ऐसा कर सकता है, वही वास्तव में बुद्धिमान् है। गांधीजी के बारे में भी लोगों ने समझा कि

उनकी अहिंसा की बात भी ऊपर-ऊपर की होगी, देश हिंसा के लिए तैयार नहीं है, इसलिए उन्हें अहिंसा की भाषा बोलनी पड़ती है, ताकि कानून के शिकंजे में फँस न जायँ; लेकिन वास्तव में हिंसा करना ही ठीक है।

गांधीजी की शब्द-शक्ति

लेकिन जब गांधीजी ने इन हिंसक घटनाओं के प्रायश्चित्त-स्वरूप उपवास किये और स्वयं अपने ऊपर कष्ट झेला, तब जाकर लोग समझे कि यह एक अनोखा नेता है। जनता में बापू के प्रति ऐसा विश्वास पैदा हुआ कि यह मनुष्य जो बोलता है, वही उसके मन में होता है। अर्थात् शब्द-शक्ति काम करने लगी। तब तक शब्द-शक्ति ऐसा काम नहीं करती थी। गांधीजी ने तप करके शब्द-शक्ति की प्रतिष्ठा बढ़ायी। इस शब्द-शक्ति का अधिष्ठान लोकशाही के लिए अत्यन्त जरूरी है, क्योंकि एक बार शब्द-शक्ति कुंठित होती है, तो विश्वास खतम होता है, और फिर शस्त्र-शक्ति के सिवा और कोई चारा नहीं रहता।

किन्तु दुःख के साथ कहना पड़ता है कि गांधीजी में जितनी सत्यनिष्ठा थी, उतनी हम सबमें नहीं थी। इससे अंत-अंत में गांधीजी के शब्दों में सबका विश्वास नहीं रहा। उनके शब्दों के प्रति लोगों के मन में, विरोधियों के मन में, सरकार के मन में शंका खड़ी होने लगी कि गांधीजी ऐसा कहते हैं अवश्य, पर कदाचित् उनके मन में और ही बात हो। जैसे जिन्ना के शब्दों पर हिन्दुओं को विश्वास नहीं था, वैसे ही उस समय बहुत-से मुसलमान गांधीजी के शब्दों पर से विश्वास खो बैठे थे। यानी शब्द की शक्ति टूट गयी। उसका परिणाम हमने भारत में देख लिया। स्वराज्य-प्राप्ति के समय हमारे यहाँ अंत-अंत में जो कुछ हुआ, वह उसीका परिणाम था।

वह समय गांधीजी को भारी दुःख में बिताना पड़ा। उनके शब्द को लोग मानते नहीं थे। यह अन्त-अन्त में हुआ। लेकिन

इतना निश्चित है कि जाहिर व्यवहार के क्षेत्र में गांधीजी ने अनोखी सत्यनिष्ठा दिखायी और शब्द-शक्ति की प्रतिष्ठा वढ़ायी। राजनीति के शुद्धिकरण के लिए वापू ने जैसा प्रयास किया, वैसा दूसरे किसीने किया हो, तो वह मैं नहीं जानता। वे राजनीति में पड़े हुए थे, फिर भी सत्य पर सतत नजर रखकर काम करते थे।

गांधीजी ने राजनीति चलायी ही नहीं

सच पूछें तो मैं कहूँगा कि गांधीजी ने राजनीति चलायी ही नहीं। उन्होंने जो कुछ किया, वह लोकनीति ही थी। कारण जनता को जगाने के लिए उनका भगीरथ प्रयत्न चलता था। स्वराज्य-प्राप्ति के पहले जो कुछ काम हुआ है, वह लोकनीति ही थी, राजनीति नहीं। गांधीजी ने राजनीति में इसीलिए भाग लिया कि उस समय मुख्य कार्य आजादी प्राप्त करना था। शास्त्र में कहा है : **स्वतन्त्रः कर्ता**—जो स्वतंत्र नहीं, वह 'कर्ता' नहीं वन सकता। अर्थात् जो स्वतंत्र नहीं, उसकी कोई हस्ती ही नहीं। इसी कारण स्वराज्य लाने के लिए गांधीजी राजनीति में पड़े।

वापू ने जीवन और समाज की निष्ठाओं का निरूपण किया। उसमें राजनीति को स्वाभाविक ही स्थान मिला। उनके जीवन में राजनीति की प्रधानता नहीं थी। जीवन की निष्ठा में राजनीति का जितना कुछ स्थान था, उतने तक ही जीवन की निष्ठा को ध्यान में रखकर वे राजनैतिक प्रश्नों को हल करते। यही कारण है कि उनके जीवन में रचनात्मक आन्दोलन के माध्यम से आजादी का आन्दोलन चला।

राजनीति को नीतिमय बनाने की कल्पना

गोखले ने राजनीति के आध्यात्मीकरण की, राजनीति को नीतिमय वनाने की वात कही थी। उन्होंने यह एक बहुत

ऊँची कल्पना दी। इतिहास में ऐसा ही प्रयत्न मुहम्मद पैगम्बर ने भी किया था, पर उन्हें सफलता नहीं मिली। गोखले ने 'सर्वेण्ट्स ऑफ इंडिया सोसाइटी' की स्थापना की तो उसके उद्देश्य में उन्होंने कहा था कि 'राजनीति को उदात्त बनाना और उसे अध्यात्म की योग्यता तक पहुँचाना है।' उन्होंने राजनीति को Spiritualise--धर्ममय करने की, नीतिमय करने की कल्पना दी थी।

गांधीजी ने यह बात उठा ली और उसका विकास किया। राजनीति को आध्यात्मिक रूप देने के विचार को गांधीजी ने बहुत अधिक स्पष्ट किया। हम जितने भी काम करते हैं, उनमें राजनीति भी आती है। गांधीजी ने कहा कि राजनीति में सत्य और अहिंसा के आधार पर ही बरतना चाहिए। केवल आध्यात्मिक कह देने से कुछ स्पष्ट नहीं होता, इसलिए गांधीजी ने उसकी व्याख्या कर दी और स्वयं राजनीति को आध्यात्मिक रूप देने का सतत प्रयत्न किया। यह कुछ अंशों में सफल भी हुआ, क्योंकि यह प्रयत्न सत्ता-प्राप्ति के पूर्व का था।

तब स्वराज्य लाना था

बापू ने जिस राजनीति में भाग लिया, वह कैसी राजनीति थी? उस समय कांग्रेस का मेम्बर बनना जुल्मी सरकार का कोपभाजन बनना था। आज कांग्रेस का मेम्बर बनने में खोने का क्या है? कदाचित् प्राप्त करने का ही होगा। उस समय उसमें त्याग था, तितिक्षा थी। कोई भी देश जब आजादी प्राप्त करने का प्रयत्न करता है, तब स्वाभाविक ही उसमें आध्यात्मिकता आ जाती है। कारण, उसके पक्ष में एक महान् सत्य समाया रहता है और इसी कारण उसमें सत्पुरुष और सज्जन भी शामिल होते हैं। उस समय अहिंसा की बातें चलती थीं, सत्य का नाम लिया जाता था, सारे देश में उपवास करने की पुकार होती थी और लोग भी एकआध दिन का उपवास खींच ले जाते थे।

सूत कातने को कहा जाता, तो सूत कातते और प्रार्थना करने भी बैठ जाते। कारण वह राजनीति नहीं, लोकनीति थी। गुलाम देश को स्वतंत्र करने का काम राजनीति में शुमार नहीं होता, वह लोकनीति में ही गिना जाता है। इसी कारण उसमें आध्यात्मिकता का अंश आ जाता है और उसमें निष्काम सेवा की झलक भी मिलती है।

स्वराज्य मिलते ही रास्ता बदल गया

किन्तु ज्यों ही सत्ता-प्राप्ति के आसार दूर से ही दिखायी देने लगे, त्यों ही राजनीति में आध्यात्मीकरण का यह जो आभास प्रकट हुआ था, वह उड़ गया। आध्यात्मीकरण का वल दुर्वल पड़ गया। जहाँ पता चला कि सत्ता अव हाथ में आ रही है, वहीं राजनीति ने अध्यात्म लगभग छोड़ दिया और गांधीजी से भी कह दिया कि अव हमारे रास्ते जुदे हो गये हैं—पार्टिंग ऑफ वेज हो गया है। कांग्रेस-कमेटी ने गांधीजी को साफ-साफ सुना दिया कि "अंग्रेज हमारी अमुक-अमुक शर्तें स्वीकार करेंगे, तो हम उन्हें युद्ध में और अन्य सभी प्रकार की मदद देंगे। अहिंसा आदि के जो कुछ विचार हैं, उन्हें छोड़ देंगे।" यह कहकर उन्होंने गांधीजी को अलग कर दिया।

तब मुझे महाभारत की एक वात याद आ गयी। युद्ध निकट आ गया था। भगवान् कृष्ण की कुमक लेने के लिए अर्जुन और दुर्योधन दोनों उनके पास गये। भगवान् सोये थे। अर्जुन उनके पैरों के पास बैठा और दुर्योधन सिर की तरफ। भगवान् ने आँखें खोलीं। सामने अर्जुन बैठा दिखायी दिया। पूछा : "कैसे आये ?" तो कहा : "युद्ध होनेवाला है, उसमें आपकी मदद लेने आया हूँ।" दुर्योधन बोला : "मैं भी यहाँ बैठा हूँ।" तब कृष्ण ने कहा : "दो तरह की मदद मिल सकती है। एक तो यादव-सेना और दूसरे निःशस्त्र स्वयं मैं। इसमें से पसन्द कर लो।" इस पर अर्जुन ने कहा : "मुझे तो विना आयुध के भी आप ही

चाहिए," जब कि दुर्योधन भगवान् को छोड़ सेना लेकर खुश हुआ कि वह सेना के बल पर लड़ाई जीतेगा। इस तरह जब इन लोगों ने गांधीजी को छोड़ सेना आदि लेना ठीक समझा, तो मुझे महाभारत का यह प्रसंग याद हो आया।

ज्यों-ज्यों सत्ता-प्राप्ति का अवसर नजदीक आता गया, त्यों-त्यों कांग्रेस गांधीजी से दूर होती गयी। दोनों के दृष्टिकोण में फर्क आ गया। गांधीजी के अंतिम दिनों का चित्रण प्यारेलालजी ने अपने अप्रतिम ग्रंथ 'दी लास्ट फेज' (पूर्णाहुति) में किया है। उसमें यह सब वर्णन है। आखिरी दिनों में गांधीजी कहते थे कि 'जिन-जिन मूल्यों के लिए मैंने प्रयत्न किया, वे सारे-के-सारे मूल्य खतम हुए जा रहे हैं।" जब दिल्ली में स्वतंत्रता-प्राप्ति का समारोह मनाया जा रहा था, तब गांधीजी दूर-दूर अपनी तपस्या को अधिक-से-अधिक कठोर बना रहे थे। जिस गांधी का नाम ले-लेकर लाखों लोगों ने त्याग किया, उसे ही अंतिम दिनों में व्यासमुनि की तरह कहना पड़ा :

ऊर्ध्वबाहुर्विरोम्येषो न च कश्चित् शृणोति मे ।

'हाथ ऊँचे उठाकर चिल्ला रहा हूँ, पर कोई मेरी सुनता ही नहीं।' व्यास भगवान् जैसा ही अरण्यरोदन इस जमाने में गांधीजी को भी करना पड़ा।

इसीलिए मैंने कहा कि राजनीति को आध्यात्मिक रूप आने का जो आभास निर्माण हुआ, वह सत्ता-प्राप्ति के पहले का था। लेकिन जैसे ही सत्ता-प्राप्ति के आसार दिखायी दिये, वैसे ही आध्यात्मीकरण का आभास एकदम उड़ गया।

मुझे तो यह राजनीति ही खत्म करनी है

अब, कुछ लोग मुझे समझाते हैं कि जैसे बापू राजनीति के आध्यात्मीकरण की कोशिश करते थे, वैसे ही आपको भी करनी चाहिए। उनसे मैं कहता हूँ कि मैं तो इस राजनीति को ही खतम

करना चाहता हूँ। पत्थर को महादेव बनाना और फिर उसकी पूजा करना, ऐसा मुझे नहीं करना है। मेरा कहना है कि इसे जेब में रख लो और अंतर्यामी प्रभु की पूजा करो। पत्थर का अध्यात्मीकरण करने का एक जमाना था। उस जमाने की मैं कद्र करता हूँ। लेकिन चन्दन घिस-घिसकर पत्थर की पूजा करूँ और सामने भूख से तड़पते लोगों की उपेक्षा करूँ, उनकी तरफ न देखूँ, यह अब नहीं चलेगा। पत्थर की पूजा बीते जमाने की बात हो गयी। भागवत में ठीक ही कहा है : **कलौ खलु भविष्यन्ति नारायणपरायणाः**। कलियुग में लोग नारायण-परायण बनेंगे। इसका मतलब यह नहीं कि भक्ति नहीं होगी, केवल भक्ति का स्थान बदल गया है।

राजनीति का अध्यात्मीकरण करने की प्रक्रिया में मेरे ध्यान में आया कि इस प्रक्रिया के दरमियान राजनीति टिकती नहीं, टूट जाती है और उसके बदले लोकनीति आती है। स्वतंत्रता के साथ लोकशाही और अणुयुग, इस तरह तीनों चीजें एक साथ आती हैं, वहाँ राजनीति का अध्यात्मीकरण करते समय राजनीति टूट जाती है। जैसे लकड़ी को प्रज्वलित करने का प्रयत्न करते हैं, तो उस प्रक्रिया के दरमियान वह जल जाती है। लकड़ी का लकड़ी-भाव कायम रखकर उसमें अग्नि का प्रवेश कराना—यह दिखाना कि लकड़ी भी कायम है और अग्नि भी कायम, संभव नहीं। जितनी आग बढ़ेगी, उतनी ही लकड़ी नष्ट होती जायगी। उसके नाश के साथ-साथ उसका प्रकाश है।

मतलब यह कि जहाँ अल्पमत और बहुमत के भेद डालकर कारोबार चलता है, वहाँ राजनीति को कायम रखकर उसका अध्यात्मीकरण करने जाते हैं, तो वह चल नहीं सकता। 'राजनीति का अध्यात्मीकरण' ऐसा वाक्य प्रयोग करेंगे, तो पहला शब्द दूसरे शब्द को काटेगा और दूसरा पहले को। दोनों परस्पर विरोधी शब्द हो गये हैं। अणुयुग, लोकशाही और आजादी

तीनों एक साथ आने के कारण ऐसा हुआ। इसीलिए मेरा ध्यान इस बात पर गया कि अब यही कहना ठीक रहेगा कि 'पॉलिटिक्स इज आउटडेटेड'—राजनीति के दिन लद गये। अब उसे जाना ही है।

'राज' और 'नीति' ये दोनों शब्द एक-दूसरे को काटते हैं। 'नीति' शब्द को 'राज' काटता है और 'राज' शब्द को 'नीति'। नीति आती है, तो राज्य-व्यवस्था अपने-आप खंडित होती है और राज्य-व्यवस्था आती है तो नीति खतम होती है। अब हमें राज्य नहीं, प्राज्य चाहिए। यह कितने दिन में होगा, यह तो मैं नहीं जानता। लेकिन यदि कोई करने लायक काम है, तो वह यही है। **मेरे तो मुख राम-नाम, दूसरा न कोई।** मेरे मुख से राम-नाम के सिवा दूसरा कुछ भी न निकले, ऐसा निर्णय सर्वोदय-समाज को करना चाहिए।

मूल में पड़ा है यह सत्ता-मोह !

दुनिया में इस समय एक बड़ा मोह काम कर रहा है और वह है, सत्तामोह। सज्जन लोग भी मान बैठे हैं कि वे सत्ता के बिना काम नहीं कर सकेंगे या सत्ता की सहायता से अधिक काम कर सकेंगे।

गांधीजी के बहुत-से साथी भी इस मोह में फँसे हैं। ये लोग मानते हैं कि चाहे जैसी हालत में राज्य चलाने की जवाबदारी हम पर रहती ही है। मैं भी कबूल करता हूँ कि हमने स्वराज्य प्राप्त किया है, फिर भी यदि हम राज्य चलाने की जवाबदारी नहीं उठाते हैं तो फिर स्वराज्य प्राप्त करने का अर्थ ही क्या ह? इसलिए किसी भी स्थिति में राज्य चलाने की हमारी जवाबदारी है, ऐसा वे मानते हैं।

उनका यह कहना सही है। लेकिन मेरा विचार यह है कि हमने स्वराज्य जरूर प्राप्त किया है, लेकिन वह इसलिए कि सत्ता अपने हाथ में लेकर उस सत्ता का विलय करने का काम दूसरे

ही क्षण शुरू कर दिया जाय। पूरी तरह विलय होने में भले ही पचास वर्ष लगें, पर उसकी शुरुआत तो आज से ही कर देनी चाहिए।

इस विचार की हम जितनी छानबीन करें, उतनी कम ही है। साम्यवादी लोग भी यह मानते हैं कि राज्य क्षीण होना चाहिए। लेकिन वे मानते हैं कि आज की हालत में तो राज्य को जितना बन सके, मजबूत करना चाहिए और उसी आधार पर जितनी भी विरोधी शक्तियाँ हैं, उन्हें खतम कर देना चाहिए। बाद में राज्य क्षीण होता रहेगा। मतलब यह कि साम्यवाद में राज्य-शक्ति को मजबूत करना तो है नकद और राज्य-शक्ति का विलय होना है उधार! यह उधार कब वसूल होगा, कोई नहीं कह सकता। 'आज तो मुझे मजबूत-से-मजबूत ताकत दे दो!' यही इसका सार है। और कल की किसने देखी है?

फिर, आज गांधीवाले भी क्या कहते हैं? (वे गांधीजी के नाम पर कहते हैं, इसलिए उन्हें 'गांधीवाला' कहता हूँ।) ये कहते हैं कि राज्यसत्ता तो हर हालत में किसी-न-किसी मात्रा में जरूर रहेगी। कम रहेगी, चुनी हुई रहेगी, पुण्यकारक रहेगी, सब सही, लेकिन यह रहनेवाली तो है ही। यह इनकी श्रद्धा है, बहुतों की श्रद्धा है। इसलिए वे ऐसी गाँठ बाँधे बैठे हैं कि अगर हम राजनीति से अलग रहेंगे, तो आज की परिस्थिति में दुनिया की सेवा करने का बड़ा साधन हाथ से निकल जायगा। इसलिए बीच के समय के लिए यह करना होगा।

अब, साम्यवादियों ने तो मान ही रखा है कि सत्ता के मार्फत सारी सेवा होगी। उनका तो कोई सवाल ही नहीं। लेकिन जो लोग मन से सेवापरायण हैं, व्यक्तिस्वातंत्र्य और अहिंसा को महत्त्व देते हैं, वे भी मानते हैं कि बीच के समय में तो सत्ता के मार्फत ही सेवा हो सकती है। इस पर मेरा कहना यह है कि बीच का समय तो हमेशा का था, हमेशा का है और हमेशा

रहेगा। हमें अपने मन में तय करना पड़ेगा कि जो करना है, वह आज ही करना पड़ेगा। जीवन के साथ जो आदमी कांप्रोमाइज–समझौता–करता है, उससे दुनिया में अहिंसा की स्थापना नहीं हो सकती।

यह गांधी-विचार नहीं

लेकिन सत्ता का यह मोह गांधीवालों से भी छटता नहीं। वे समझते हैं कि हमारे गुरुजी (गांधीजी) राजनीतिक जीवन को वहुत महत्त्व देते थे। इसलिए हमें भी सत्ता पर ध्यान देना चाहिए।

मुझे लगता है कि यह गांधी-विचार नहीं है। सामान्य रूप से मैं गांधीजी के नाम से वोलता नहीं। क्योंकि गांधीजी के नाम से वोलना शुरू करते हैं, तो उनके जो वचन और पुस्तकें हैं, वे सव हमें उलटनी पड़ेंगी और उसमें से वाद-विवाद शुरू हो जायगा। और तो और, भगवान् वुद्ध के शिष्यों के जो हाल हुए, उससे भी वुरे हाल हमारे होंगे। इसलिए मैं गांधीजी का नाम न लेकर विचार को ही महत्त्व देता हूँ। लेकिन जव इस तरह गांधीजी के नाम से वात होती है, तव कहना पड़ता है कि 'भाई, यह गांधी-विचार नहीं है।'

लोगों में यह एक वड़ा भ्रम फैला हुआ है कि गांधीजी राज-नीति चलाते थे। वे क्या करते थे और क्या नहीं, इसकी चर्चा करने से क्या मिलनेवाला है? लेकिन लोग इसकी चर्चा इसलिए करते हैं कि हमें क्या होना चाहिए, इस वारे में विचार पैदा होता है और उसमें गांधीजी का उदाहरण सामने आता है, इसलिए मोह पैदा होता है और वाद में उस मोह का निरसन करना पड़ता है। इस मोह को गांधीजी के नाम से और गांधीजी के जीवन का जो मिथ्या निरीक्षण हुआ है, उससे वल मिलता है। लेकिन मैं साफ-साफ कह देना चाहता हूँ कि गांधीजी ने शुरू से लेकर अंत तक लोकनीति का ही काम किया था। मेरे इस

कथन का कोई खंडन करना चाहता हो, तो वह मुझे अपना विचार जरूर समझाये।

राजनीतिक पुरुष क्या ऐसा कर सकता है ?

वैसे, गांधीजी राजनीति के पक्षपाती थे, ऐसा आपको लगता हो तो उनके अंतिम जीवन पर दृष्टिपात करें। स्वराज्य मिलने के बाद मुहम्मदअली जिन्ना की तरह हिन्दुस्तान का गवर्नर जनरल बनने से उन्हें कौन रोकनेवाला था ? लेकिन उन्होंने तो नोआखाली की राह पकड़ी। दिल्ली में जब स्वतंत्रता का उत्सव मनाया जा रहा था, तब उनकी वहाँ पदयात्रा चल रही थी।

दूसरी मिसाल लीजिये। गांधीजी ने कहा था कि वाइसराय-भवन में तो अस्पताल बनेगा। ये शब्द अहिंसात्मक क्रांति के साररूप हैं। हिंसात्मक क्रान्ति में इससे उल्टा होता है। वहाँ तो जिस स्थान से जुल्म ढाने के हुक्म छूटे हों, उसे तोप के गोले से उड़ा दिया जाता है, अथवा राजनीतिक लोग ऐसे स्थान पर जुल्मी का झंडा उतार अपना झंडा चढ़ाने में ही भारी पराक्रम मानते हैं। हिंसा और राजनीति का आचरण ऐसा ही होता है। लेकिन गांधीजी ऐसी राजनीति के पिछलग्गू नहीं थे। उनकी अखंड साधना तो लोकनीति की थी। इसीलिए वे स्वराज्य के बाद वाइसराय-भवन को अस्पताल में बदलने की बात कर सके।

उनका यह रवैया पहले से था। दूसरा एक उदाहरण दूँ। गांधीजी ने गोलमेज-परिषद् में जाकर क्या कहा ? वहाँ उन्होंने कहा कि "मैं अत्यन्त नम्रतापूर्वक स्वराज्य की माँग करता हूँ।" उन्होंने यह एक विचित्र ही बात कही, क्योंकि उस समय 'स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है और वह हम लेकर ही रहेंगे' ऐसी भाषा बोली जाती थी। तब यह नेता वहाँ कहता था कि "मैं नम्रतापूर्वक स्वराज्य की माँग कर रहा हूँ, क्योंकि उसके बिना हिन्दुस्तान के गरीबों का उद्धार होनेवाला नहीं,

यह मुझे विश्वास हो गया है। हम स्वराज्य क्यों चाहते हैं? 'हम स्वतंत्र हैं' यह कहकर मूँछों पर ताव देने के लिए नहीं, वल्कि इसलिए कि इसके विना गरीवों की सेवा असंभव है।" इस तरह गांधीजी ने स्वराज्य की माँग के साथ एक हेतु जोड़ा। यह हेतु जोड़ने की क्या आवश्यकता थी? लेकिन यही तो गांधीजी का अनोखा रवैया था। यह भापा राजनीतिवाले की है या लोकनीतिवाले की, यह आप समझ सकते हैं।

गांधीजी को यदि राजनीति चलानी होती तो···

इतना तो सोचिये कि अगर वापू को राजनीति ही चलानी होती, तो आखिर में कांग्रेस का 'लोकसेवक-संघ' में रूपांतर करने की सलाह वे क्यों देते? आप सव जानते हैं कि वापू ने मरने के पूर्व देश को आदेश दिया था : "कांग्रेस का स्वराज्य-प्राप्ति का काम पूरा हो गया, अव उसे आम जनता की सेवा में लग जाना चाहिए और 'लोकसेवक-संघ' वनना चाहिए।" कांग्रेस के लिए यह उनका वसीयतनामा था। अपनी मृत्यु के एक दिन पहले यह लिखा गया था। उसमें उन्होंने कहा है कि "कांग्रेस ने राजनीतिक स्वतंत्रता हासिल कर ली, लेकिन देश की आम जनता के लिए आर्थिक स्वतंत्रता, सामाजिक स्वतंत्रता और नैतिक स्वतंत्रता प्राप्त करना अभी वाकी है।" वापू की इच्छा थी कि इस काम के लिए एक लोकसेवक-संघ की स्थापना हो और कांग्रेस तो इसमें पूरी-पूरी समा ही जाय, इसके सिवा उनके द्वारा स्थापित रचनात्मक संस्थाएँ—खादी-ग्रामोद्योग, नयी तालीम, स्त्री-सेवा, हरिजन-सेवा, हिन्दू-मुस्लिम-एकता, शांति-सेना की स्थापना, आर्थिक आजादी आदि का काम करनेवाले सभी लोग उसमें मिल जायँ। देश की सेवा करने के लिए सव पक्षों और पंथों से मुक्त एक ऐसा संगठन हो और वह गाँव-गाँव को अपने पैरों पर खड़ा करने के लिए कटिबद्ध हो जाय।

राजनीतिवालों को बापू की यह सलाह एकदम Absurd–विचित्र लगती है। उन्हें लगता है कि अगर कांग्रेस का लोक-सेवक-संघ बन जाय, तो पता नहीं देश का क्या से क्या हो जायगा और किसे पता कि किसकी सत्ता चलेगी ? देश के टुकड़े हो जायँगे और भयंकर पक्षभेद शुरू हो जायेंगे। फिर, क्या पता प्रत्याघाती तत्त्व भी आकर डट जायँ। ऐसी परिस्थिति में चुनावों द्वारा कांग्रेस का कब्जा बना रहे, यह देश के लिए जरूरी है। ऐसी दलील छोटे-बड़े सभी देते हैं। बापू की सलाह पर विचार करते समय उस समय के कांग्रेसी नेताओं के मन में ऐसी जवाबदारी की एक भावना थी। उस समय उन्हें लगा था कि लोकसेवक-संघ बनाने में जोखिम है। उन्होंने सोचा कि आज जो कुछ ढाँचा है, उसे एकदम रफा-दफा कर दिया जाय तो कौन जाने लोकसेवक-संघ कब बनेगा और पता नहीं जनता पर इसकी छाप कब पड़ेगी। तब तक दुर्भाग्य से देश की प्रत्याघाती शक्तियों ने दिल्ली पर कब्जा कर लिया तो सब किया-कराया मिट्टी में मिल जायगा। देश स्वाधीन हुआ न हुआ कि वापस पराधीन हो जायगा। यह सोचकर इन लोगों ने कांग्रेस को कायम रखा।

गांधीजी सरकार की सत्ता गौण बनाना चाहते थे

लेकिन गांधीजी की सलाह मानकर यदि लोकसेवक-संघ बनाया गया होता, तो सारे देश पर उसका अच्छा प्रभाव पड़ता। जनता को सही दिशा दिखाने के लिए, निष्काम और निष्पक्ष भाव से सेवा करने के लिए, योग्य मार्गदर्शन के लिए, नीति का विचार देने के लिए, जनता या सरकार की भूल होने पर उसे तटस्थ भाव से जनता के समक्ष प्रस्तुत करने की एक नैतिक शक्ति देश में पैदा हो गयी होती। महत्त्व का प्रभाव तो यह पड़ता कि देश में सेवा-संस्था मुख्य बनती और राज्य चलानेवाली सत्ता-संस्था गौण। इसके बदले आज क्या हुआ है ? सत्ता-संस्था मुख्य बनी है, सब दूर उसीका बोलबाला है। छोटी-छोटी

सेवा-संस्थाएँ इसकी आश्रित बनकर काम करती हैं, जब कि गांधीजी सरकार की सत्ता को गौण और जनता की सत्ता को मुख्य बनाना चाहते थे।

बापू ने कांग्रेस को लोकसेवक-संघ बनाने की सलाह दी थी, उसका अर्थ यही था कि यदि आप लोकसेवक बनेंगे, तो सत्ता-धारियों पर आपका प्रभाव रहेगा। सत्ता का स्थान दूसरे नम्बर पर रहेगा, पहले नम्बर पर नहीं। प्रथम लोकसेवक होगा, सेवा रानी होगी और सत्ता उसकी दासी बनेगी।

सच पूछें तो गांधीजी की यह सलाह कांग्रेस के लिए भी आशीर्वाद-रूप थी। इस आशीर्वाद के बल पर कांग्रेस युग-युग तक जी पाती। वे कांग्रेस को ऐसी बनाना चाहते थे कि वह अमर हो जाय। रूप से नाम बड़ा होता है। बापू कांग्रेस का 'रूप' मिटाकर 'नाम' बढ़ाना चाहते थे। स्वराज्य-आन्दोलन के दुनिया-भर के इतिहास में हमारी कांग्रेस का विशेष स्थान है। स्वराज्य के आन्दोलन में इस कांग्रेस ने जितना उत्तम कार्य किया है, उतना दुनिया के इतिहास में अन्यत्र कहीं नहीं हुआ। कांग्रेस ने अहिंसा की लड़ाई लड़ी। गांधीजी चाहते थे कि ऐसी कांग्रेस का नाम उज्ज्वल रहे।

उपनिषद् जैसा दर्शन

उनकी सलाह मानी गयी होती, तो कांग्रेस इस देश की सबसे बड़ी सेवा-संस्था बन जाती। जिस राजकीय काम के लिए कांग्रेस बनी, वह तो पूरा हो गया। वे ऐसी अति-विशाल, अति-दिव्य और भव्य कल्पना करते थे कि यदि कांग्रेस अपना रूपान्तर कर देश का रचनात्मक कार्य उठा ले, तो कांग्रेस ने जो कुछ पुण्य कमाया, उसका लाभ तो उसे मिलेगा ही, और पुण्य में वृद्धि भी होगी। उनकी यह एक अत्यन्त श्रेष्ठ कल्पना थी। इसमें उनकी प्रतिभा चमक उठी थी। इस कल्पना पर विचार करता हूँ तो

लगता है कि यह तो उपनिषद् जैसा दर्शन ही है। ऊँची प्रतिभा के विना ऐसी कल्पना कभी नहीं सूझती।

सामान्य तर्क एक वात है और प्रतिभा दूसरी वात। सामान्य तर्क के आधार पर जो कहा जाता है, वह वात तर्क से काटी नहीं जा सकती। वह तर्क की भूमिका में ठीक होती है। लेकिन सामान्य वुद्धिवाले को सूझता था, वैसा वापू को नहीं सूझता था। इसका अर्थ यह नहीं कि उनमें कॉमन सेन्स–सामान्य वुद्धि नहीं थी। वह तो थी ही, पर उनमें एक अनकॉमन सेन्स–असामान्य वुद्धि भी थी। इस विशेप वुद्धि से उन्होंने परख लिया कि कांग्रेस के मार्फत यदि राजकाज चलेगा तो वह राजनीति चलेगी, जव कि आज तक जो चली, वह लोक-नीति थी।

लेकिन ऐसी प्रखर कल्पना को पचाने योग्य चित्त हमारे पास उस समय नहीं था, शायद आज भी नहीं है। एक दिव्य दर्शन होता है और दूसरा चर्मचक्षु का दर्शन। वापू तो जनता को आत्मनिर्भर वनाना चाहते थे और कांग्रेस की शक्ति उस काम में लगाने की सोचते थे। कांग्रेस का रूपान्तर लोकसेवक-संघ में हुआ होता, तो इस देश में वहुत वड़ी जन-शक्ति अंकुरित हो उठती।

किन्तु ऐसा न हो सका। इस कारण कांग्रेस का नाम, जो खूव प्रभावशाली वन गया था, क्षीण हो गया। उसकी भारी शक्ति टूट गयी। इतिहासकार तो लिखेंगे कि कांग्रेस की स्थिति–**क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति**–पुण्य क्षीण होने पर स्वर्ग से पुनः मृत्युलोक में पटकने जैसी हो गयी। यह एक वड़ी हानि हुई। स्वराज्य के वाद कांग्रेस चाहे जितनी वड़ी रही हो, तो भी वह एक 'पार्टी' वन गयी। 'पार्टी' शब्द 'पार्ट' से वना है। 'पार्ट' यानी टुकड़ा। कितना भी वड़ा होने पर वह पूर्ण नहीं। गांधीजी के जमाने में कांग्रेस 'राष्ट्रीय एकता-परिषद्' जैसी

थी। उसके द्वारा राष्ट्रीय एकीकरण का बहुत बड़ा काम होता। लेकिन स्वराज्य के बाद कांग्रेस भी मात्र एक राजनीतिक पक्ष बन गयी, और उसके बड़े-बड़े नेता, जो एक समय देश-नेता थे, वे एक दल के नेता बन गये।

प्रभाव डालने के बदले प्रवाह में पड़ गये

इसका परिणाम क्या आया, सो हमने देख लिया। आज हालत ऐसी है कि एक नैतिक आवाज उठे और सारा देश उसका अनुसरण करे, ऐसी कोई संस्था अथवा व्यक्ति देश में दीखता नहीं। भिन्न-भिन्न दलों (पक्षों) के नेता जनता के सम्मुख जाकर एक-दूसरे की बातों का खंडन करते हैं। निष्क्रिय जनता में इससे किसी प्रकार क्रियाशीलता पैदा नहीं होती। नैतिक नेतृत्व का पूरी तरह अभाव है। इसके कारण देश में एक प्रकार की निष्क्रियता, शून्यता और खालीपन आ गया है और जनता बावली बन गयी है। कहाँ जाना, क्या करना, यह उसकी समझ में नहीं आ रहा है। गांधीजी की सलाह मानी गयी होती तो ये दिन न आते।

गांधीजी के जाने के बाद राजनीति को अपनी जीवन-निष्ठा से प्रभावित करने के बदले हम स्वयं ही राजनीति से प्रभावित हो गये, चौंधिया गये। राजनीति के प्रवाह की तेजी हमें भी उसमें बहा ले गयी है। आज हमारी जीवन-निष्ठा का कोई भी प्रभाव राजनीति पर नहीं रह गया। उल्टे हमारे जीवन पर राजनीति का प्रभावस्पष्ट है। गांधीवादी कहलानेवाले राजनीतिक लोग आज गांधी के मार्ग पर नहीं हैं। वे नाना फड़नवीस के क़दमों पर चलते हुए दीखते हैं। नतीजा यह निकलता है कि दूसरे को सुधारने के बदले हम ही बिगड़ते जा रहे हैं।

हम किसके क़दमों पर ?

अंग्रेजों का हमला होनेवाला था। बोरघाट में अंग्रेज आ पहुँचे थे। पूना में पेशवा साथियों को लेकर तैयार थे। सोच

रहे थे कि सिर देकर मुकाबला करना पड़ेगा। नाना फड़नवीस ने पूना को धधकती धरा बनाये रखने की तैयारी कर रखी थी। शिंदे कितनी सेना लायेगा? भोंसले कितनी सेना लायेगा? होलकर कितनी सेना लायेगा?–ऐसी बातें चल रही थीं।

"हम इतनी सेना लायेंगे, इसके बदले हमें क्या मिलेगा?"

"खानदेश का अमुक भाग आपको मिलेगा।"

"हम इतनी सेना लाये थे, उसके बदले में हमें क्या मिलेगा?"

"आपको अमुक भाग मिलेगा।"

आज दिन तक ऐसा ही चलता आ रहा है। नाना फड़नवीस के जमाने में जो बातें चलती थीं, वे ही बातें आज चल रही हैं। 'मुझे कितनी सीटें मिलेंगी? मुझे कौन-सा पद मिलेगा?'

मैं कहना चाहता हूँ कि गांधीजी आये और गये, तो भी परिस्थिति जैसी की तैसी है। नाना फड़नवीस के जमाने में जो कुछ चलता था, उससे आज कहाँ भिन्न राजनीति चल रही है? आज राजनीति की ताकत ही क्या है?–**क्षयकारिणी शक्ति।** जिस पुण्य का संचय हुआ था, वह क्षीण हो रहा है। स्वराज्य के मिलने के बाद जिन्होंने सत्ता चलायी, उनमें से कितने ऐसे हैं, जिनके पूर्व-पुण्य में क्षय के बदले वृद्धि हुई है? ऐसे बहुत थोड़े होंगे, जिन्होंने महाराज जनक की तरह सत्ता को पचाया हो। बाकी लोगों का पुण्य तो क्षीण ही हो रहा है।

बापू अहिंसा को दासी नहीं, रानी बनाना चाहते थे

बापू के आने के बाद भी आज भारत में जैसी राजनीति चल रही है, वैसी ही चलनेवाली हो, तो फिर बापू ने आकर क्या किया, यह मेरी समझ में नहीं आता। उनके अवतार का कुछ लाभ हमें मिला या नहीं? गांधीजी तो आये और गये, फिर भी राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक सभी क्षेत्रों में हमारा चिन्तन-स्तर ऐसा ही दकियानूसी रहा। हमारा सारा

दारोमदार सेना, पुलिस और सरकार पर ही रहा, तो फिर गांधी जैसे आये वैसे गये—बस, इतना ही हुआ। गांधीजी के आने से लाभ ही क्या हुआ ?

आज के विज्ञान-युग में सबसे बड़ी जरूरत और चाह इस बात की है कि करुणा का झरना फूट निकले और अहिंसा 'दासी' न रहकर 'रानी' बन जाय। यह तो आज तक चलता ही था कि दण्ड-शक्ति के राज्य में अहिंसा रहे। सदियों से दण्ड-शक्ति का राज्य चल रहा। यह ठीक है कि उसका वेष बदलता रहा है। इस समय लोकशाही का वेष चल रहा है। बावजूद इसके राज्य दण्ड-शक्ति का ही है और अहिंसा तो जैसी पहले थी, वैसी आज भी है, पर है वह दासी ही।

युद्ध में रेडक्रास वगैरह के लोग घायल सैनिकों की सेवा के लिए जाते हैं। उसमें करुणा और दया होती है। लेकिन यह करुणा युद्ध का अन्त नहीं ला सकती। वह तो युद्ध का स्वाद बढ़ाती है। युद्ध के पाप को घटाकर वह एक तरह से युद्ध को टेका ही देती है। ऐसी करुणा तो पहले भी थी।

लेकिन गांधीजी जो चाहते थे, वह यह करुणा नहीं। वे तो ऐसी करुणा चाहते थे, जो रानी हो और जिसके आधार पर मानव-समाज की रचना की जा सके, हम कर सकेंगे ऐसा विश्वास मानव को हो। धीरे-धीरे दण्ड-शक्ति क्षीण होती जाय और अंत में उसका बिलकुल रूपान्तर हो जाय। दण्ड-शक्ति धीरे-धीरे क्षीण होती जाय और स्वतंत्र, करुणामूलक और साम्य पर आधारित लोक-शक्ति बढ़े। हमें हिंसा-शक्ति की विरोधी और दण्ड-शक्ति से भिन्न लोक-शक्ति प्रकट करनी चाहिए।

अहिंसा का विकास होने पर ही

इसे मैंने गांधी-विचार समझा है। इसमें आज की राज-नीति का समूल परिवर्तन करने की बात आती है। एक नयी

लोकनीति विकसित करनी है। इतना समझ लेने की खास जरूरत है कि जब तक 'राजनीति' शब्द और राजनीति की कल्पना चलेगी, तब तक उसका स्पिरिच्युअलाइजेशन–अध्यात्मीकरण नहीं होगा। उसके साथ धर्म की ग्लानि होगी। इसलिए राजनीति को सत्यमय करने का एक ही उपाय है और वह है उसका लोकनीति में परिवर्तन करना। 'मैं ब्राह्मण हूँ', 'मैं अमुक भाषावाला हूँ','मैं अमुक धर्म का हूँ', 'मेरा तो अमुक राजनैतिक पक्ष है'–ऐसी सारी उपाधियों के बंधन को तोड़े बिना अहिंसा की शक्ति के विकास के लिए हमारी बुद्धि काम नहीं देगी। अगर अहिंसा की शक्ति का विकास करना चाहते हैं, तो उपाधिरहित होना ही पड़ेगा।

अन्यथा हिंसा के पंजे से विश्व का छुटकारा नहीं

जब तक मन में यह बात साफ नहीं हो जाती और गले नहीं उतर जाती, उतरती हो तो भी बीच के समय में जैसे-तैसे कुछ-न-कुछ किये बिना चारा नहीं–ऐसा भास चित्त में रहता है, तब तक हिंसा के पंजे से विश्व का छुटकारा नहीं होगा। इसके लिए अब तो काम करने की केवल ऐसी पद्धति हमें अपनानी पड़ेगी, जिससे दुनिया से हिंसा की जड़ें ही उखड़ जायें। इसमें अधिक समय लगे, तो भी हर्ज नहीं।

इसीलिए जब कोई मुझसे पूछता है कि आप इस राजनीति को निर्मल करने की कोशिश क्यों नहीं करते, तो मैं कहता हूँ कि मैं उसे खतम ही करना चाहता हूँ। विज्ञान के इस युग में अब पॉलिटिक्स (राजनीति) आउट-डेटेड–जीर्णशीर्ण–हो गयी है।

स्वराज्य के बाद सारा काम किस तरह नये सिरे से संयोजित करना चाहिए, इस विषय में गांधीजी के मन में भी तीव्र चिन्तन चलता था। उनका विचार था कि सेवाग्राम में

एक सम्मेलन बुलाकर अपने साथियों को कुछ समझाऊँगा। लेकिन उनको यह अवसर नहीं मिला।

वाइबिल की कथा सब जानते हैं। ईसामसीह को वध-स्तंभ पर चढ़ाया गया और दफना दिया गया। उसके बाद कब्र में से वे पुनः उठ बैठे और अपने कुछ शिष्यों को दर्शन देकर कहा : "अब मैं गेलिली जाता हूँ, वहाँ मैं तुमसे मिलूँगा, यहाँ नहीं।" इसी तरह मुझे पता चला है कि गांधीजी ने दिल्ली छोड़ दी है और गाँवों में पहुँच गये हैं। 'दिल्ली में मुझे गाड़ दिया (अग्नि-संस्कार कर दिया) इतना काफी है। अब वहाँ मेरा काम नहीं।'—ऐसा सोचकर वे गाँवों में चले गये हैं। गांधीजी का सूत्र था : 'गाँवों की ओर वापस मुड़ो।' इसलिए उन्होंने दिल्ली छोड़ दी है।

जिसे पेड़ काटना है, वह पेड़ पर नहीं बैठता

एक बार स्वराज्य मिल जाय, फिर राजनीति का अध्यात्मीकरण करना यानी सत्ता को काटना। दूसरी भाषा में कहना हो तो कहा जायगा 'सत्ता का विकेन्द्रीकरण करना।' दोनों भाषा मिलकर एक पूरा अर्थ होता है। एक भाषा से पूरा अर्थ नहीं होता। मेरी 'स्वराज्य-शास्त्र' नामक एक छोटी-सी पुस्तक है। उसकी प्रस्तावना में एक वचन है : **न त्वहं कामये राज्यम्।** उसीमें एक दूसरा वचन है : **यतेमहि स्वराज्याय।** —हमें राज्य नहीं चाहिए, हम स्वराज्य के लिए प्रयत्न करेंगे। राज्य यानी सरकार की सत्ता और स्वराज्य यानी प्रत्येक मनुष्य की सत्ता। जहाँ हरएक को ऐसा लगे कि मेरी सत्ता है, वहाँ सर्व की सत्ता, सर्वराज्य बनता है। यह बिलकुल निराली वस्तु है। इसे भले ही स्वराज्य कहिये या सर्वराज्य कहिये, यह 'लोकनीति' है। इसे लाने के लिए राजनीति को काटना पड़ेगा। जिसे पेड़ को काटना है वह पेड़ पर नहीं चढ़ता। हाँ, शाखा काटनेवाला पेड़ पर जरूर चढ़ेगा। पर हमें तो पेड़ ही मूल से काटना है।

इसलिए उससे (राजनीति से) अलग रहकर उसे काटना पड़ेगा। यह बात केवल हिन्दुस्तान तक ही नहीं, सारी दुनिया के लिए है। मुट्ठीभर लोगों के हाथ में सत्ता आ पड़ी है, उसे उखाड़ डालना है।

गांधी-विचार में विश्वास करनेवालों के सामने यह एक मुख्य ध्येय है : जनता को जगाने का और राज्य का क्षय करने का। जनता की अपनी शक्ति जगे और राज्य का क्षय हो—उसके बिना गांधीजी की कल्पना का समाज ला नहीं सकते। इसलिए आज सर्वोदय-परिवार के सामने यह एक क्रांतिकारी ध्येय है।

७. सत्याग्रह

जब कोई देश पराधीन बनता है, तब बहुत-कुछ उस देश के लोग या तो बिलकुल दब जाते हैं, चूँ-चाँ नहीं कर सकते या विद्रोह का झंडा उठा लेते हैं और किसी-न-किसी प्रकार, कहीं-न-कहीं, कुछ-न-कुछ बगावत खड़ी कर देते हैं। दुनिया में अधिकतर ये ही दो प्रक्रियाएँ देखने को मिलती हैं। लेकिन हिन्दुस्तान में जब अंग्रेजों की सत्ता जमी, तब दोनों में से एक भी प्रक्रिया नहीं हुई, बल्कि एक तीसरी ही प्रक्रिया उत्पन्न हुई। इस काल में यहाँ जो महापुरुष पैदा हुए, उन्होंने न दबाव पसन्द किया, न शस्त्र लेकर लड़ना। बल्कि उन्होंने तो तीसरी ही चीज पसन्द की। उन्होंने आत्मसंशोधन शुरू किया। उन्होंने सोचा कि जब इतनी बड़ी संस्कृतिवाला, इतना विशाल देश देखते-देखते पराधीन हो गया, तो इसके कारणों पर गंभीरता से विचार करना चाहिए। हमारे अन्दर जो दोष हों—न्यूनता हो, उसका निरीक्षण, परीक्षण, समीक्षण, निराकरण और संशोधन करना चाहिए। इस प्रकार हमारे यहाँ आत्म-शुद्धि शुरू हो गयी। हमारे लोग न तो दीनहीन बने और न संताप के मारे उन्होंने जगह-जगह बलवे किये। वे तो आध्यात्मिक संशोधन के पीछे लग गये।

यह एक बहुत बड़ी बात है। दुनियाभर में ऐसी मिसाल शायद ही मिले। इस काल में राजा राममोहन राय, रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द, स्वामी दयानन्द, रमण महर्षि, श्री अरविन्द, लोकमान्य तिलक, न्यायमूर्ति रानडे, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, महात्मा गांधी आदि असंख्य उच्च कोटि के स्वतंत्र विचारक

हिन्दुस्तान में हुए। उन्होंने विचार में संशोधन किया और दुनिया के विचार में वृद्धि करने में अपना योग दिया। परतंत्र देश से ऐसी अपेक्षा बिलकुल नहीं की जाती कि उसमें ऐसी स्वतंत्र बुद्धि हो सकती है कि वह दुनिया पर असर डाले और दुनिया के सामूहिक विचार में नया-नया योग अंकित कराये। फिर भी यहाँ यह हुआ। उसमें से जो नये विचार परतंत्र भारत की स्वतंत्र बुद्धिमत्ता के कारण दुनिया को मिले, उनमें तीन तो अत्यन्त महान् विचार हैं।

भारत की तीन महान् देनें

१. सर्वधर्म-समन्वय का शाब्दिक नहीं, किन्तु अनुभवात्मक विचार रामकृष्ण परमहंस ने जगत् को दिया। यों तो कहने-वाले कहते और लिखनेवाले लिखते ही हैं कि सब धर्मों में अच्छा अंश होता है, लेकिन भिन्न-भिन्न धर्मों की जो वासनाएँ हैं, उन सबका अत्यन्त तटस्थ-बुद्धि से और पूर्ण प्रेमपूर्वक स्वानुभव कर, उनके मूल तक पहुँचकर, आत्मा का निर्णय व्यक्त कर, 'मूल में एकत्व है, एकता है, अद्वैत है' ऐसा जाहिर करना, यह संसार के लिए एक बहुत बड़ी भेंट है।

२. दूसरा विचार श्री अरविन्द का है। मैं मानता हूँ कि विज्ञान-युग में यही विचार टिकेगा, दूसरा नहीं। जब तक हम अपने छोटे मन से ऊपर नहीं उठ जाते और ऊपर उठकर पर-मात्म-रस का सेवन करके सेवा के लिए नीचे नहीं आते, तब तक हम दुनिया की सही सेवा नहीं कर सकते। श्री अरविन्द ने ऐसा एक जबरदस्त विचार दुनिया को दिया है। यों तो मन को निर्मूल करने की बात हजारों वर्ष से चली आयी है। योगियों ने उसके लिए अनेकविध प्रयत्न किये हैं। लेकिन समस्त मानव-समाज मन से ऊपर उठने की कोशिश करे और ऐसी कोशिश होगी, तभी मानवजाति का उद्धार होगा, यह बात श्री अरविन्द ने कही।

३. तीसरा महान् विचार महात्मा गांधी ने दिया। और वह है सत्याग्रह का विचार। जब तक हम परस्पर विरोधी बातों का बाह्य उपाय नहीं सोचेंगे—लड़ाई, युद्ध आदि स्थूल उपायों से ऊँचे नहीं उठेंगे, तब तक दुनिया का बेड़ा पार नहीं होगा। इसलिए सत्याग्रह की आवश्यकता है। यह गांधीजी का दिया हुआ विचार है।

गांधीजी ने सत्याग्रह का प्रयोग सामूहिक रूप में पहले-पहल दक्षिण अफ्रीका में किया। 'सत्याग्रह' शब्द का जन्म भी इसी प्रयोग से हुआ। इस शब्द के बनने के पूर्व दक्षिण अफ्रीका में यह आन्दोलन 'निःशस्त्र-प्रतीकार' के नाम से पहचाना जाता था। यह नाम एकदम अर्थ का अनर्थ करनेवाला था। इसलिए इस 'सत्याग्रह' शब्द का शोध हुआ। दोनों के अन्तर को गांधीजी ने इस प्रकार बताया है :

१. निःशस्त्र प्रतीकार में प्रेम की गुंजाइश नहीं है। सत्याग्रह में वैरभाव की गुंजाइश नहीं है।

२. निःशस्त्र प्रतीकार बहुत बार शस्त्र-बल की पूर्वतैयारी होती है। सत्याग्रह का ऐसा उपयोग हो ही नहीं सकता।

३. निःशस्त्र प्रतीकार सगे-संबंधियों के विरुद्ध नहीं हो सकता। सत्याग्रह प्रेमीजनों के खिलाफ भी हो सकता है।

४. निःशस्त्र प्रतीकार में विरोधी पक्ष को दुःख देने की, सताने की कल्पना होती है। सत्याग्रह में दूसरे को दुःख देने की कल्पना ही नहीं हो सकती।

विचार करने पर सत्याग्रह एक मध्यमपदलोपी समास से बना शब्द सिद्ध होता है। सत्याग्रह अर्थात् 'सत्य के लिए अहिंसा-पूर्वक आग्रह।' इस प्रकार सत्याग्रह अहिंसा का प्रयोग है।

आध्यात्मिक पृष्ठभूमि

गांधीजी को भारत की आध्यात्मिक पृष्ठभूमि का लाभ मिला और भारतीय संस्कृति के अनुरूप उन्होंने अहिंसा का

शस्त्र दिया। यहाँ जो अध्यात्म-संशोधन हुआ था, वह यदि न हुआ होता तो समाज महात्मा गांधी की अहिंसा की बात सुनने को तैयार न होता। इतिहास में तो ऐसा कोई उदाहरण नहीं था कि अहिंसा से कोई सल्तनत नष्ट हो गयी है। फिर भी यहाँ की आध्यात्मिक पृष्ठभूमि के कारण ही लोगों ने अहिंसा के विचार को स्वीकार कर लिया। गांधी-विचार का बीज रोपने के लिए इस देश की आध्यात्मिक मनोभूमि तैयार थी। इस देश के वातावरण में जो आध्यात्मिक भावना है, प्राणीमात्र के लिए जो दयाभाव है, सब जीवों में आत्मा के अस्तित्व की मान्यता है, उसीके कारण गांधीजी का प्रयोग इस देश में सफल हो सका। इसमें जितना गौरव गांधीजी को है, इससे बहुत अधिक देश को है। गांधीजी तो एक निमित्त बने। वे न आते तो दूसरा कोई पैदा होता। किसी-न-किसी प्रकार यह शक्ति प्रकट होती ही। इस प्रकार गांधीजी द्वारा इस देश की आध्यात्मिक वृत्ति प्रकट हुई और उसे प्रकट होने के लिए परिस्थिति के कारण मौका मिला।

अंग्रेजों ने इस देश में आकर ऐसा काम किया, जो पहले की किसी भी सल्तनत ने नहीं किया था। उन्होंने प्रजा को निःशस्त्र कर डाला। ऐसी निःशस्त्र प्रजा के लिए केवल दो ही मार्ग रह जाते हैं, या तो हमेशा की गुलामी स्वीकार ले या परम्परागत शस्त्रों से भिन्न कोई दूसरा शस्त्र खोजे। हमारे सामने की यह ऐतिहासिक आवश्यकता थी। भगवान् की प्रेरणा से गांधी जैसा एक व्यक्ति मिल गया, जिसने आत्मबल का व्यापक उपयोग किया। उन्होंने हमें सिखाया कि यदि विदेशी राज्य को सहयोग देना बन्द कर दें तो वह राज्य गिर जायगा।

गांधीजी की अहिंसा या सत्याग्रह की विशेषता यह कही जा सकती है कि उन्होंने इस विचार का सामूहिक प्रयोग किया, जब कि आज तक दूसरों के प्रयोग बहुत कुछ व्यक्तिगत थे।

यद्यपि यह फर्क भी बहुत अंशों में परिस्थिति के कारण पड़ा है। प्रत्येक युग की अपनी एक आवश्यकता होती है और एक शक्यता। उसीके अनुरूप बात उस-उस युग के महापुरुषों को सूझती है। व्यापक क्षेत्र में अहिंसा का उपयोग करने की कल्पना पहले जमाने के लोगों को इतनी नहीं हो सकी, जितनी आज के लोगों को होती है। इसका कारण है, विज्ञान। विज्ञान के अभाव में उस समय के दुनिया के लोग इतने निकट नहीं आये थे। इसलिए पहले के जमाने में आध्यात्मिक शक्ति के उपयोग व्यक्तिगत और कौटुम्बिक क्षेत्र तक सीमित रहे। इस आध्यात्मिक शक्ति का व्यापक उपयोग हो सकता है, इसका प्रत्यक्ष भान हमें गांधीजी ने कराया। इसके पहले उसका प्रत्यक्ष अमल भारी परिमाण में इतिहास में कभी नहीं हुआ। उसका ऐसा अमल कर दिखाने का अवसर भगवान् ने हिन्दुस्तान को दिया और वह काम गांधीजी द्वारा हुआ।

सत्याग्रह : एक जीवन-निष्ठा

यह जो सत्याग्रह की शक्ति है, वह हमारे लिए हमेशा उपयोगी है। प्रायः हम सत्याग्रह का अर्थ ठीक-ठीक नहीं समझते। सत्य से चिपके रहना ही सत्याग्रह है। अपने सारे जीवन का गठन सत्याग्रही निष्ठा पर करना, चाहे जितनी मुसीबतें आयें, तो भी जिसे हम सत्य समझते हैं, उस पर टिके रहना, सत्याग्रह है। उसके लिए कष्ट सहन करने पड़ें, तो भी हर्ज नहीं। इतना ही नहीं, उसके लिए हम कष्ट सहन करते हैं, इसका भान भी नहीं होना चाहिए। सत्य का अमल करनेवाले को उसके लिए किये जानेवाले प्रयत्न में आनन्द आता है।

इस तरह आपत्ति में सत्य पर टिके रहने की शक्ति जनता में होनी चाहिए। यही एक शक्ति है, जिससे दुनिया हिंसा से बच सकती है। मैं मानता हूँ कि दुनिया के लिए सत्याग्रह से

बढ़कर मुक्तिदायक कोई भी दूसरा शस्त्र नहीं। जिस किसी समाज में जो कुछ समस्याएँ हों, उनके समाधान के लिए इस शक्ति का उपयोग हो सकता है। हमारे शिक्षण में ऐसी योजना होनी चाहिए कि वह विद्यार्थियों में सत्याग्रह की वृत्ति निर्माण करे। आजकल हम विद्यार्थियों को कुछ व्यावहारिक तालीम देते हैं और उनसे कुछ अनुशासन की आशा रखते हैं। इससे अधिक हमारी कोई अपेक्षा ही नहीं होती। अनुशासन भी एक अच्छा गुण है, इसमें सन्देह नहीं। लेकिन वह गुण-सर्वस्व या सबसे श्रेष्ठ गुण नहीं है। सर्वश्रेष्ठ गुण कौन-सा है, यह कहना मुश्किल है। लेकिन गीता में उसे 'अभयम्' कहा गया है। इसलिए निर्भयता के पाये पर ही सारी तालीम की रचना होनी चाहिए। समाज-रचना और राज्य-पद्धति की रचना भी उसी आधार पर होनी चाहिए। निर्भय बने बिना सत्यनिष्ठा नहीं बढ़ेगी और न सत्य पर अडिग रहने की शक्ति ही आयेगी।

निर्भयता का अर्थ है, न तो किसीसे डरना और न किसीको डराना। दोनों मिलकर निर्भयता बनती है। अपने-आपको देह से भिन्न देखने में ही निर्भयता है। जो अपने को देह से भिन्न देखता है, वह दूसरों को भी देह से भिन्न देख सकता है। इसलिए वह किसीसे दबता नहीं और न किसीको दबाता ही है। किसीसे डरता नहीं और न किसीको डराता ही है। शरीर से अपने-आपको अलग पहचानना ही आत्मज्ञान है और यही है सत्याग्रह की शक्ति का अधिष्ठान। आत्मज्ञान के बिना सत्यनिष्ठा संभव ही नहीं। सत्य के लिए कष्ट उठाने पड़ते हैं, मरने तक खटना पड़ता है। यह सारी निर्भयता आत्मज्ञान पर ही खड़ी हो सकती है।

सत्य, अहिंसा, समत्व

सत्याग्रह में अहिंसा का महत्त्व भी स्पष्ट है, क्योंकि बहुत

वार आमने-सामने खड़े दोनों विरोधी पक्ष सत्य के नाम पर ही लड़ते हैं। दोनों सत्य का दावा करते हैं। दोनों अपने-अपने पक्ष की विजय के लिए भक्तिभाव से प्रार्थना करते देखे जाते हैं। 'हे भगवन्, हमारे शत्रु का नाश करो !' ऐसी ईश्वर से आर्त प्रार्थना करनेवाले दयालु ईसाई पिछले महायुद्ध में जगह-जगह दिखाई दिये। इसलिए सत्पक्ष कौन-सा है, इसका निर्णय ईश्वर को सौंपकर अहिंसक साधन कौन अपनाता है, यही देखना लाभदायी है। हाँ, आगे चलकर अपने को अहिंसक कहनेवाले दोनों पक्ष एक-दूसरे के खिलाफ उपवास वगैरह से लड़ने लगेंगे, और दोनों सत्य का दावा करने लगेंगे, तब सत्य और अहिंसा दोनों को एक ओर रखकर समत्व को महत्त्व देना होगा। जहाँ समत्व, वहीं सत्य और वहीं अहिंसा—ऐसी कसौटी वहाँ लगेगी। वास्तव में देखा जाय तो सत्य, अहिंसा और समत्व तीनों मिलकर एक ही विचार होता है।

आजकल 'किसीके विरुद्ध सत्याग्रह करना' ऐसी परिभाषा रूढ़ हुई है। वह एक भाषा ही है। सत्याग्रह में विरुद्ध-विरुद्ध कुछ नहीं। वास्तव में देखा जाय तो यह सच है कि किसीके आगे सत्याग्रह, किसीके साथ सत्याग्रह। सत्याग्रह में मुख्य वात है, सामनेवाले मनुष्य का विचार वदलना। यथार्थ सत्याग्रह का स्वरूप यह है कि स्वयं शुभ विचार करना, सामनेवाले को ठीक-ठीक समझाकर वह उसके गले उतारना, उसके साथ विचार-विनिमय करते हुए अपने विचार में कुछ दोष हो, तो उसका शोधन करना। कई वार ऐसा होता है कि सामनेवाला काल्पनिक स्वार्थ के कारण या क्रोध-मोहादि विकारों के वश होकर सुनने-समझने के लिए ही तैयार नहीं होता। इसलिए 'दुःख-सहन' आदि अहिंसा के प्रयोग और तपस्या को वीच के समय में अवकाश मिल जाता है। लेकिन उसके कारण अथवा उसके विना भी समझने की मनःस्थिति

आ जाती है तो उसके बाद का काम विचार का ही होता है। इसलिए विचार पर स्वयं अमल कर उसे सतत सँभालते रहना और दूसरे के विचार समझने के लिए सदैव तैयार रहना ही सत्याग्रह का मुख्य स्वरूप है। आदि में विचार, अंत में विचार और मध्य में विचार—यह सत्याग्रह का नित्यधर्म है। आदि में विचार, अंत में विचार और मध्य में अहिंसा की तपस्या, इसे 'सत्याग्रह का आपद्धर्म' समझें।

सत्याग्रह का अर्थ अड़ंगा लगाना नहीं

किसीने सत्याग्रह किया, यह सुनते ही ठंडक पहुँचनी चाहिए, मन में एकदम आनन्द होना चाहिए। किन्तु आज तो इससे उल्टी प्रतिक्रिया होती है। सत्याग्रह घोषित होते ही लोगों को भय लगता है। कुछ तो उसके प्रतीकार का भी विचार करते हैं। जैसी लड़ाई की प्रतिक्रिया होती है, वैसी ही सत्याग्रह की भी होती है। लेकिन सत्याग्रह का स्वरूप ऐसा नहीं है। सत्याग्रह का स्वरूप तो लड़ाई से एकदम उलटा है। लड़ाई में एक पक्ष की हार होती है तो दूसरे पक्ष की जीत, जब कि सत्याग्रह में दोनों पक्षों की जीत ही होती है। जहाँ लड़ाई में एक-दूसरे के मन एक-दूसरे के विरुद्ध खड़े होते हैं, वहीं सत्याग्रह में वे एक-दूसरे के निकट आते हैं। सत्याग्रह से एक-दूसरे की बुद्धि के परदे खुल जाते हैं और वह विचार करने के लिए प्रेरित होती है। लड़ाई में तो विचार कुंठित होता है, जब कि सत्याग्रह में धीरजपूर्वक अपना विचार समझाते रहना है। एक रीति से न समझे, तो जिस रीति से समझ सके उस रीति से कुशलतापूर्वक विचार समझाना। यही सत्याग्रह का सर्वोत्तम, शुद्ध स्वरूप है। यह जो ज्ञान-शक्ति पर, विचार-शक्ति पर विश्वास है, उसीका नाम है 'सत्याग्रह'। सत्याग्रह कोई अड़ंगा लगाने या दबाव डालने की बात नहीं।

पिस्तौल दिखाने जैसी स्थिति

आजकल उपवास-बुपवास को 'सत्याग्रह' मान लिया जाता है, जैसे झाँझ-मजीरा बजाने और गला फाड़कर चिल्लाने को 'भक्ति' मान लिया जाता है। झाँझ बजाने से नींद आने की कठिनाई टल जाती है। लेकिन नींद न आने से ही भक्ति सिद्ध होती हो, तब तो सारी दुनिया की १६ घंटे भक्ति ही चलती है, यही कहना पड़ेगा। झाँझ बजाना भक्ति का लक्षण नहीं हो सकता, उल्टे आसपास के लोगों के लिए वह उपद्रवरूप बनता हो तो वैसा करना भक्ति के विपरीत ही होगा। इसी तरह उपवास-बुपवास तथा कष्ट-सहन भी राजस-तामस वृत्ति से प्रेरित हो, तो वह सत्याग्रह के बदले दुराग्रह का लक्षण बन सकता है। वह किसीके सामने पिस्तौल दिखाने जैसा हो जाता है।

हमारे इतने बड़े देश में, जहाँ अनेक प्रांत, अनेक भाषाएँ, अनेक जातियाँ, पंथ और धर्म हैं, जहाँ असंख्य सवाल सामने आते रहते हैं और जनता की तरह-तरह की मुसीबतों का पार नहीं, वहाँ एक-एक सवाल को लेकर एक-एक आदमी यदि सरकार के सामने उपवास करने बैठे, तो उससे बड़ी अनवस्था खड़ी हो जायगी। फिर, सरकार भी ऐसे एक-एक उपवास के आगे झुकती जाय, तो वह सरकार नालायक साबित होगी।

आज देश स्वतंत्र है। देश का कारोबार लोकतांत्रिक पद्धति से चलता है। जनता के पास जाकर, अपने मत का प्रचार करके, लोकमत को अपने मत के अनुकूल करने की प्रत्येक को स्वतंत्रता है। उसका उपयोग करने का तरीका छोड़कर उपवास करना ठीक नहीं। लोगों को अपना विचार समझाओ, फिर जनता से सरकार वैसा करा लेगी। लेकिन यह मानकर उपवास वगैरह चलता है कि हिंसक शक्ति हाथ में नहीं है, तो उपवास का हथियार ठीक है, तो यह एकदम अनुचित है। उपवास से

दवाव पड़े तो वह सत्याग्रह नहीं, खोटा काम है। सत्याग्रह का मतलव डराना-धमकाना नहीं, वह तो प्रेम की पराकाष्ठा है। प्रेम का प्रकर्ष होने पर ही उपवास किया जाता है। यह नहीं होता कि सामनेवाले को मारते-पीटते नहीं वनता, इसलिए चलो, उपवास कर लें।

तितिक्षा सत्याग्रह का गुण नहीं

मान लीजिये, कोई एक सवाल है। मुझे लगता है कि उसमें सत्य मेरे पक्ष में है, पर सामनेवाला मेरी कुछ नहीं मानता। तो मैंने शुरू किया सत्याग्रह ! सत्याग्रह अर्थात् उपवास। फिर उसने भी हमारे सामने उपवास शुरू कर दिया। अव इसका निर्णय कैसे हो कि सत्य किसके पक्ष में है ? मान लें, मुझमें उपवास करने की शक्ति जरा कम है और सामनेवाले में अधिक, तो क्या यह समझा जाय कि उसके पक्ष में सत्य है ? भूखे रहने की शक्ति पर यदि सत्य का निर्णय हो, तो फिर कुश्ती से सत्य का निर्णय क्यों न किया जाय ? फिर तो कोई जैनधर्मी मेरे सामने हो तो मुझे हरा ही देगा, क्योंकि उसकी तो वह टेव ही है। उपवास में वह मुझे सहज ही हरा देगा, थका देगा। उपवास की शक्ति में तो मैं उसके सामने टिक ही नहीं सकता। लेकिन इसीलिए मेरे पास सत्य नहीं और सामनेवाले के पास सत्य है, ऐसा यदि निर्णय करना हो तो क्या वह ठीक कहलायेगा ? अवश्य ही वह तितिक्षावान् है, सहनशक्तिवाला है। लेकिन 'जो तितिक्षावान्, वह सत्यवान् है' यह समझना गलत है, जैसे कि जिसके पास शस्त्र अधिक, उसके पास सत्य अधिक। ऐसा नहीं हो सकता।

संक्षेप में, सत्याग्रह की शक्ति तितिक्षा नहीं। सत्याग्रह में हमें क्षमा करनी पड़ती है, सहन करना पड़ता है। सहन करने के लिए तैयार होना अलग बात है, लेकिन सहन करने को ही हथियार वनाना कि 'आ जाओ, अव मैं सहन ही करता हूँ'

यह ठीक नहीं है । जैसे सामनेवाले को हराने के लिए तोप होती है, वैसे ही उपवास कर देना सत्याग्रह का लक्षण नहीं । सहन करना पड़े और सहन करें, यह अलग बात है, लेकिन सत्य स्थापित करने में सहन करने का कार्यक्रम नहीं होना चाहिए । सत्य स्थापित करने के लिए विचार के अलावा दूसरी कोई शक्ति नहीं है ।

इसका अर्थ यह नहीं कि सत्याग्रह के लिए उपवास का अवसर ही नहीं आयेगा या किसीको उपवास का हक ही नहीं । मैं मानता हूँ कि उपवास सत्याग्रही का उत्तम शस्त्र है । लेकिन यह शस्त्र ऐसा है कि ठीक उपयोग होने पर ही वह फलदायी होता है । जब सरकार उलटे मार्ग पर चल पड़ी हो, जनता कुछ सुनती ही न हो, बहक गयी हो, ऐसे समय अत्यन्त व्याकुल होकर महापुरुष परमेश्वर से प्रार्थना करने के लिए उपवास कर सकता है । ऐसे उपवास धमकीस्वरूप नहीं, बल्कि प्रेम की पराकाष्ठास्वरूप होंगे ।

मोर के पंख लगाने से कौआ मोर नहीं बन जाता

गांधीजी ने अपने सत्याग्रह में उपवास का भी आश्रय लिया था, यह हमें भूलना नहीं चाहिए । लेकिन वे कितने महान् थे ! उन्होंने कितनी सेवा की थी ! उन्होंने अपनी हृदय की व्याकुलता प्रकट करने के लिए उपवास के प्रयोग किये । उपवास जब प्रेम, करुणा और समत्व की निशानी रूप होगा, तब उसका असर होगा और उस स्थिति में वह उचित भी माना जायगा । लेकिन भक्तगण ताली पीटते हैं और उन्हें देखकर हम भी तालियाँ पीटें, तो भक्त थोड़े ही बन जायँगे ? ताली पीटने से भक्ति पैदा नहीं होती । भक्तिवश ताली बजती है, तब भक्ति का स्वरूप प्रकट होता है । लेकिन हम ताली को भक्ति की टेकनिक—युक्ति—मान बैठें, तो वह ठीक नहीं होगा । भक्त गाते हैं, नाचते हैं, लेकिन गौरांग महाप्रभु के नाचने और दूसरों के नाचने में फर्क पड़ जाता

है। संस्कृत में कहावत है कि शंकर भगवान् का नृत्य तो 'ताण्डव-नृत्य' होता है और उनके गण नाचते हैं, तो उसे 'पिशाच-नृत्य' कहते हैं। नृत्य नृत्य में फर्क है। दोनों का असर अलग-अलग होता है। इस प्रकार जब उपवास प्रेम, सत्य, करुणा आदि के स्वाभाविक परिणामस्वरूप आता है, तो उसका असर भी प्रेम, सत्य, करुणा आदि के असर से भिन्न नहीं होता।

सत्याग्रह नित्य विकासशील शास्त्र

इस तरह सत्याग्रह के विविध पहलुओं पर गंभीरतापूर्वक विचार होना चाहिए और सूक्ष्म छानवीन होती रहनी चाहिए। हमें उसका विकास करते रहना है। वर्षों से मैं इस विषय में चिन्तन कर रहा हूँ। कितने ही विचार सूझे हैं। गांधीजी हमेशा कहते थे कि 'सत्याग्रह नित्य विकासशील शास्त्र है और आज तक हम इसका शास्त्र वना नहीं पाये हैं। वह धीरे-धीरे वनेगा।' वे दीर्घ-दृष्टि थे, क्रांतदर्शी थे। जिस जमाने में वे काम करते थे, उसकी मर्यादा जानते थे और आगे क्या-क्या आनेवाला है, उसका भविष्यदर्शन भी उन्हें हो गया था। इसीलिए गांधीजी कहते थे कि 'गांधीवाद जैसी कोई चीज नहीं होनी चाहिए और न हो सकती है।' वे कहते थे कि गांधीवाद एक घातक शब्द है, क्योंकि यदि गांधी के नाम के साथ सत्याग्रह का सम्वन्ध जोड़ देंगे, तो जैसे उसमें से कुछ प्रेरणा मिलेगी, वैसे ही पहले सत्याग्रह को कुछ मर्यादा भी लागू पड़ेगी। 'गांधी' शब्द सत्याग्रह को मर्यादित रूप प्रदान करेगा। इसलिए यह शब्द उनके साथ नहीं जोड़ना चाहिए। ऐसा विचार नहीं करना चाहिए कि गांधी कोई चरित्र था, वल्कि समझना चाहिए कि वह एक विचार था। इस ढंग से विचार करेंगे, तो सत्याग्रह-शास्त्र का विकास करने में खूब मदद मिलेगी।

सत्याग्रह का स्वरूप जैसा गांधीजी के जमाने में था, वैसा-का-वैसा इस ज़माने में नहीं हो सकता, यह हमें ठीक से सम-

झना चाहिए। गांधीजी के जमाने में और आज के जमाने में बहुत फर्क पड़ गया है, जो मूलगामी है, ऊपर-ऊपर का नहीं। भारत के अन्दर फर्क पड़ा है और अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति में भी फर्क पड़ा है, यह वात ध्यान में रखनी चाहिए।

बापू के और आज के जमाने में मौलिक अन्तर

वापू के जमाने में और आज के जमाने में तीन प्रकार के अंतर हैं। पहला यह कि उस समय हम आजाद नहीं थे और आज आजाद हो गये हैं। दूसरा अंतर है, उस समय हिन्दुस्तान में लोकशाही की स्थापना नहीं हुई थी, पर अव लोकशाही की स्थापना हो गयी है। और तीसरा अंतर है, उस समय जितना विज्ञान था, उससे आज वह वहुत आगे वढ़ गया है। उस समय अभिनव विज्ञान-युग नहीं था। बापू के जमाने में उसका आरंभ ही हुआ था। इस तरह ये तीन घटनाएँ ऐसी हुई हैं, जो हमें संशोधन करने की प्रेरणा देती हैं। इसलिए सत्याग्रह-विषयक संशोधन हमें आगे वढ़ाना चाहिए। एक वात ध्यान में रखनी चाहिए कि आज के सन्दर्भ में सत्याग्रह का वाह्य स्वरूप पहले की अपेक्षा भिन्न होगा। तत्त्वतः उसका जो मूलरूप है—आंतरिक प्रेमरूप, वह कायम रहेगा।

इसलिए गांधीजी के जमाने में सत्याग्रह का जो प्रकार आजमाया गया, उसीको आदर्श मानकर चलेंगे, तो वह भूल होगी। उनका एक जमाना था, खास परिस्थिति थी। उस स्थिति में काम ही निगेटिव—अभावात्मक करना था। उस समय यहाँ से अंग्रेजों को खदेड़ना था। वह पूरा-पूरा नकारात्मक काम था। इसलिए स्वराज्य के पहले सत्याग्रह का नकारात्मक स्वरूप था। अहिंसक दवाव लाकर विदेशी राज्य को हटाने का वह एक प्रकार था। लेकिन आज हमें जो काम करना है, वह वैसा नहीं। आज हमें अपने ही लोगों में रूपान्तर करना है। बापू हमेशा एण्ड ऑर मेण्ड (या तो सुधारो

या खतम करो) की भाषा बोलते थे। आज हम यह भाषा नहीं बोल सकते। वे अंग्रेजों से 'क्विट इंडिया'—भारत छोड़ो कह सकते थे। आज हम व्यापारियों को, जमीन-मालिकों को, सम्पत्तिवानों को 'क्विट इंडिया' नहीं कह सकते। हम सबको यहीं रहना है, इसलिए कोई छोड़कर नहीं जायगा। इसलिए आज तो हम सबको एक स्थान पर साथ रहने की युक्ति सध जानी चाहिए।

गांधीजी होते तो स्वरूप में अवश्य फर्क करते

गांधीजी आज होते तो वे सत्याग्रह के स्वरूप में जरूर फर्क करते, इसमें मुझे तनिक सन्देह नहीं। गांधीजी के जमाने में जो सत्याग्रह हुए, उनके बारे में आज लोगों को जितना आदर है, उतना स्वयं गांधीजी को नहीं था। यह तो जब आप प्यारेलालजी की पुस्तक 'लास्ट फेज' पढ़ेंगे, तब पता चलेगा कि बापू ने जिस तरह सत्याग्रह चलाया, उसमें से जो शक्तियाँ प्रकट हुईं, वे सब अच्छी नहीं थीं, क्योंकि वह निर्बलों का सत्याग्रह था। बाद में गांधीजी स्वयं कहने लगे थे कि 'स्वराज्य प्राप्त करना था, इसलिए भगवान् ने मेरी आँखों पर पट्टी बाँध दी थी, इसलिए आँखें होते हुए भी मैं उसको कभी देख न सका।' इसीलिए कहता हूँ कि गांधीजी आज होते, तो वे भी सत्याग्रह का वही स्वरूप कायम न रखते।

इसलिए आज जो सत्याग्रह हो, उसका गुणवान् स्वरूप होना चाहिए। स्वराज्य मिलने के बाद लोकशाही में सत्याग्रह हो, तो वह बहुत अधिक स्पष्ट, शक्तिशाली और अधिक रचनात्मक अर्थ रखनेवाला होना चाहिए। फिर, रचनात्मक सत्याग्रह का हेतु तो प्रेम ही हो सकता है। यह विचार ही भूलभरा है कि दूसरे पर स्थूल दबाव जितना अधिक पड़ेगा, सत्याग्रह उतना ही अधिक शक्तिशाली बनेगा। वास्तव में देखा जाय तो दबाव जितना कम, प्रेम का अंश जितना

अधिक, उतना सत्याग्रह अधिक शक्तिशाली। फिर आज के विज्ञान-युग में तो अगर सत्याग्रह में मनः-क्षोभवाली बात आती है, तो सारा गँदला हो जायगा और प्रजा चिन्तन की शक्ति खो बैठेगी।

इसी कारण वापू ने कहा था कि मैं सत्याग्रह का शास्त्र नहीं लिख सकता, वह तो धीरे-धीरे विकसित होता रहेगा। इसलिए इस सत्याग्रह की प्रक्रिया का विकास करने की जवाबदारी हम पर आयी है। लेकिन हमने उसका विकास करने के वदले गांधीजी के जमाने में वह जैसा हुआ, उससे भी नीचे स्तर पर उसे पहुँचा दिया है।

इसका मुख्य कारण यह है कि सत्याग्रह की एक निगे-टिव–अभावात्मक–व्याख्या लोगों के मन में स्थिर हो गयी है। सत्याग्रह यानी अड़ंगा लगाने का एक प्रकार, वहुत अघटित न घटे इस प्रकार दवाव डालने की पद्धति–इतना ही अर्थ लोगों के मन में है। इसी कारण कई लोगों को इसका अधिक आकर्षण भी है।

लोकशाही में भी सत्याग्रह को स्थान

इसके परिणामस्वरूप प्रत्याघात भी हुए हैं। कुछ तो यहाँ तक कहते हैं कि लोकशाही में सत्याग्रह को स्थान नहीं, यह एकदम गलत विचार है। सत्याग्रह एक जीवन-पद्धति है, एक कार्यपद्धति है और विशिष्ट प्रसंग में उपाय-पद्धति है। इसलिए सत्याग्रह को आज भी स्थान है ही। सत्याग्रह के लिए तो केवल ऐसी अवस्था में ही अवकाश नहीं रहेगा कि जहाँ प्रत्येक निर्णय सर्वानुमति से होता हो। सवकी सम्मति से ही निर्णय लिया जाता हो, ऐसी समाज-रचना हो, तो वहाँ स्वतंत्र सामूहिक सत्या-ग्रह की आवश्यकता नहीं रहेगी। उस समय वेटे के आगे माँ सत्याग्रह कर सकेगी। लड़कों का अपनी माँ के आगे सत्याग्रह हो सकेगा। एक पड़ोसी के विरुद्ध दूसरे पड़ोसी का सत्याग्रह

हो सकेगा। यहाँ सामने और विरुद्ध का अर्थ हिंसा के अर्थ में नहीं लेना है। बल्कि किसीके सुधार में और सहायक होने के लिए उस पर प्रेमपूर्वक त्याग द्वारा जो प्रयोग किया जायगा, उस अर्थ में यहाँ 'विरुद्ध' शब्द का उपयोग किया गया है। पड़ोसी पर विशेष रूप से प्यार प्रकट करने के लिए पड़ोसी व्यक्तिगत सत्याग्रह करेगा। सामूहिक सत्याग्रह को गुंजाइश नहीं रहेगी, लेकिन यह तो ऐसी समाज-रचना में, जहाँ प्रत्येक सामूहिक निर्णय सर्वसम्मति से लिया जाता हो। बाकी, लोकशाही में सत्याग्रह को गुंजाइश है ही। हाँ, इतना सही है कि उसका स्वरूप अब कुछ भिन्न होगा। ऐसी स्थिति में सत्याग्रह को और उसके शास्त्र को विकसित करने की हमारे सिर पर एक बड़ी जवाबदारी है।

बापू के सत्याग्रहों को अन्तिम आदर्श न मानें

बापू के साथ मेरी कई बार चर्चा हुई है। खासकर जो-जो सत्याग्रह हुए, उनके सन्दर्भ में मुझे जो कुछ लगा, मैंने उनके आगे रखा। कुछ समझना जरूरी लगा तो नम्रतापूर्वक उनके निकट जाकर बातें कर लीं। अधिकांश सत्याग्रहों में उन्होंने अपनी भूल जाहिर की। राजकोट के सत्याग्रह में दबाव आया। अहमदाबाद के मजदूरों के सत्याग्रह में कुछ दबाव आया, यह उन्होंने स्वीकार किया। अंबेडकरवाले मामले में बहुत चर्चा करने का मौका मुझे नहीं मिला। 'कम्युनल-अवार्ड' के समय बापू ने जो उपवास किये, उनका सामान्य मनुष्य पर बुरा असर पड़ता, तो उसके लिए सामान्य मनुष्य जवाबदार माना जाता। लेकिन उसका बुरा असर रवीन्द्रनाथ टैगोर पर पड़ा। उन्होंने बापू को बचाने के लिए एक बात मान ली और कुछ दिनों बाद जाहिर किया कि इसे मान लेने में मेरी भूल हुई।

अब, रवीन्द्रनाथ ऐसे मनुष्य नहीं थे कि अपने ऊपर नाहक दबाव आने दें। बल्कि वे तो भारत के Sentinel—संतरी-

स्वरूप थे। जब भी हमारा आन्दोलन उच्छृंखलता की तरफ गया, उन्होंने उसे रोका। भारत को संकुचित देशाभिमान से मुक्त रखने की उन्होंने सतत कोशिश की। इतने महान् थे वे। फिर भी वापू जैसा व्यक्ति जीवित रहना चाहिए, यह आसक्ति कहें, मोह कहें या करुणा, उसका उन्हें स्पर्श हुआ। इसलिए उन्होंने ऐसी वात कबूल कर ली, जो उनकी वुद्धि को ठीक नहीं लगती थी और पीछे से कहा भी कि यह ठीक नहीं हुआ। इसका अर्थ यह कि वापू के इस उपवास में हृदय-परिवर्तन की प्रक्रिया कुंठित हो गयी।

इसलिए इस जमाने में जो सत्याग्रह हुए, वे सत्याग्रह के अंतिम आदर्श थे, यह हमें नहीं मानना चाहिए। यह हमारे व्यान में आना चाहिए कि अव लोकशाही में जिस सत्याग्रह का असर होगा, वह अधिक प्रभावशाली, अर्थात् अधिक विधायक होना चाहिए।

गांधीजी की कल्पना नकारात्मक थी ही नहीं

फिर मूलतः गांधीजी का विचार विधायक ही था। वल्कि पॅसिव रेजिस्टेन्स (Passive resistance) शव्द भी उन्होंने अस्वीकार किया था—यह कहकर कि यह शव्द ऐसा नहीं, जिसमें पूर्ण प्रेम का दर्शन हो। वाद में 'सत्याग्रह' शब्द रूढ़ हुआ। इसीलिए निश्चय ही कहा जा सकता है कि गांधीजी की सत्याग्रह की कल्पना निगेटिव थी ही नहीं। यदि ऐसा होता तो वे सत्याग्रह की कल्पना में रचनात्मक कार्य को, सेवा-कार्य को कभी न जोड़ते।

गांधीजी ने जो किया, उसका वाहरी स्वरूप ही हमने देखा। लेकिन इतने से आज काम नहीं चलता। उस समय अंग्रेजों को निकालने का अभावात्मक और नकारात्मक काम था, फिर भी उन्होंने उस कार्य के साथ दूसरे अनेक रचनात्मक और विधायक काम जोड़ दिये। कारण, उनकी जो विशिष्ट प्रतिभा थी, वह

उनसे कहती कि अभावात्मक काम के साथ यदि हम विधायक वृत्ति नहीं रखेंगे, तो अभावात्मक कार्य के पूरा होते ही दूसरे अनेक भय खड़े हो जायँगे। इसीलिए उन्होंने स्वराज्य-आन्दोलन के साथ विविध रचनात्मक काम जोड़ दिये। यह उनकी प्रतिभा थी।

लोग उनसे पूछते भी थे कि अंग्रेजों को निकालने में खादी, अस्पृश्यता-निवारण और ग्रामोद्योगों का रक्षण करने की क्या जरूरत है? एक बार सत्याग्रह चल रहा था, तो बीच में ही गांधीजी छुआछूत का प्रश्न लेकर उपवास पर उतर आये। लोग चिल्लाने लगे: "यह क्या है? आजादी की लड़ाई में अस्पृश्यता की और मन्दिर-प्रवेश की बात कहाँ से घुस आयी? इनसे राजनीतिक आजादी की प्रवृत्ति का बल घट जाता है।" लेकिन गांधीजी इसके जवाब में कहते कि "यह सब तो सत्याग्रह का ही अंग है।"

फिर, अगर गांधीजी की कल्पना नकारात्मक होती, तो एक सत्याग्रही के नाते देश के सामने मेरा (विनोबा का) नाम पेश करने में कोई सार नहीं था। लोग मुझे पहचानते नहीं थे। कोई भी राजनीतिक कार्य मेरे पास जमा-पूँजी के रूप में नहीं था। फिर भी मेरा नाम उन्होंने जाहिर किया। उसमें उन्होंने मेरे दूसरे जो भी गुण देखे हों, एक गुण तो अवश्य देखा कि इसका दिमाग रचनात्मक है, खण्डनात्मक नहीं। सत्याग्रही के लिए रचनात्मक काम उन्होंने आवश्यक माना। वे तो यहाँ तक कहते कि रचनात्मक काम पूरा हो जाय, तो स्थूल सत्याग्रह की आवश्यकता ही न पड़ेगी। यह उनकी श्रद्धा थी। रचनात्मक काम को वे इतना अधिक महत्त्व देते थे। इसलिए इतना तो निश्चित है कि सत्याग्रह का कोई नकारात्मक अर्थ गांधीजी के मन नहीं था। अतएव उन्होंने क्या-क्या किया, यह देख-भालकर हम चलेंगे तो हमारा विकास होगा।

जितना प्रेम, उतना ही सत्याग्रह का हक

इसलिए आज एक बात बिलकुल साफ हो जानी चाहिए कि उपवास-बुपवास और दूसरे कष्ट-सहन भी राजस-तामस वृत्ति से प्रेरित हों तो वे सत्याग्रह के बदले दुराग्रह के ही लक्षण हो सकते हैं। सत्याग्रह में क्लेश-सहन आता हो तो भी वह केवल विचार-परिवर्तन के लिए ही। मूलतः सत्यशोधक वृत्ति ही सत्याग्रह का बीज है, विचार-निष्ठा सत्याग्रह की शक्ति है और निर्वैरता है सत्याग्रहका खूँटा। निर्वैरता का प्रकाशन जब आवश्यक हो, तब वह विवेकयुक्त क्लेश-सहन के रूप में होता है। जितना प्रेम हो, उतना ही सत्याग्रह का हक है।

प्रेम की महिमा सब धर्मों ने गायी है। 'हम सबसे प्रेम करते हैं, सब हमसे प्रेम करें। मित्र की दृष्टि से हम दुनिया को देखें और मित्र की दृष्टि से हमें दुनिया देखे', ऐसा वचन वेद में आता है। आज यह अपेक्षा रखी जाती है कि हम और दुनिया एक-दूसरे से प्रेम करें। लेकिन दुनिया हमसे प्रेम न करे तो हम क्या करें? इसका उसमें कोई खुलासा नहीं है। अपेक्षा तो यह रखी जाती है कि हम प्रेम करेंगे, तो दुनिया भी हमसे प्रेम करेगी। वेद में मानव के विचार का आरम्भ ही अंकित है। आरम्भ में इतना ही सूझा कि दुनिया की तरफ प्रेम की नजर से देखो। लेकिन इतना सूझना भी कम नहीं था।

फिर एक मानव आया। उसने कहा कि 'वैर से वैर का कभी शमन नहीं होता और अक्रोध से ही क्रोध को जीतिये'— इस तरह विचार एक कदम आगे बढ़ा। बुद्ध की इस बात ने पिछले विचार में इतना ज्यादा फर्क ला दिया कि पिछले चिन्तन का चित्र ही नख-शिख बदल गया। वैर से वैर का शमन नहीं होता, यह ऐसी चीज हुई, जिसके कारण जीवन का एक पहलू प्रकट हुआ।

वाद में एक दूसरा मनुष्य हुआ। उसने कहा : 'दुश्मन से प्रेम करो।' फिर से सारा वदल गया। ईसा की इस वात से मनुष्य वहुत आगे वढ़ गया। दुश्मन से द्वेप न करो ऐसा नहीं, दुश्मन से प्रेम करो!

चूँकि लोगों ने इसे पूर्णता का उपदेश मान लिया, इसलिए कि 'विचार उत्तम है, लेकिन प्राप्त परिस्थिति में···' ईसा यह तो जानते ही थे कि सामनेवाला द्वेप करता है तो यह प्राप्त परिस्थिति है। इसीमें उन्होंने प्रेम करने का उसे आदेश दिया कि 'जो प्राप्त नहीं, उस परिस्थिति में दुश्मन से प्रेम करो।' अर्थात् हवा में दाँत गड़ाओ ऐसा उन्होंने कुछ नहीं कहा। सामने एक दुश्मन खड़ा है। वह हमसे द्वेष कर रहा है, खूव दाँत पीस-पीसकर मुक्के तान रहा है, यही 'प्राप्त परिस्थिति' है। इसीलिए ईसा ने आदेश दिया कि उससे प्रेम करो। इसके विना आप उसे कैसे जीत सकेंगे? दुश्मन को प्रेम से ही जीता जाय, ऐसी स्पष्ट सूचना दी गयी है।

अव आये गांधीजी। दूध में से मक्खन निकलता है, वैसे ही चालू समाज से वे निकले। जैसे दूध के सारे अच्छे तत्त्व मक्खन में इकट्ठा हो जाते हैं, वैसे ही समाज के सारे अच्छे तत्त्व समाज के महापुरुषों में इकट्ठा हो जाते हैं। साथ ही मक्खन दूध के लिए पराया नहीं होता, वैसे ही महापुरुष भी समाज के लिए पराया नहीं होता, वह समाज से अलग नहीं होता। भारत निःशस्त्र हो गया था। ऐसी स्थिति में गांधीजी आये। उन्होंने आदेश दिया कि 'दुश्मन पर प्रेम करो, यह वात केवल व्यक्तिगत नहीं, दुश्मनों के समूह पर भी हमें प्रेम ही करना है।' वे कहते थे कि 'मैं जो कुछ कर रहा हूँ, वह केवल भारत के प्रति प्रेम से प्रेरित होकर ही नहीं, वल्कि इंग्लैण्ड के प्रति प्रेम से प्रेरित होकर भी कर रहा हूँ।' उन्होंने सत्याग्रह किया और जो कुछ किया, वह सव प्रेम से प्रेरित होकर ही किया।

यह नया विचार है और हमें उसके योग्य बनना है। प्रेम का आक्रमण होना चाहिए। मैं उसे 'प्रतिरोधी प्रेम' कहता हूँ। इसमें सामनेवाला जितना रोषवान् होता है, उतना ही हमें गुणवान् बनना पड़ता है। सामनेवाले को अपनी आत्मा में ही स्थान देना है, इसी वृत्ति से सत्याग्रह हो सकता है।

सत्याग्रह इतना मीठा हो

गांधीजी और कस्तूरबा का एक प्रसंग बताता है कि प्रेम का व्यवहार कैसा होता है। कस्तूरबा का स्वास्थ्य ठीक नहीं था। गांधीजी को जब दूसरे उपचारों में सफलता नहीं मिली, तब उन्होंने बा से नमक और दाल छोड़ने को कहा। बहुत मनाने पर भी वे नहीं मानीं। अंत में बा ने कहा : "दाल और नमक छोड़ने को तो आपसे कोई कहे तो आप भी न छोड़ोगे।" बापू लिखते हैं : "यह सुनकर मुझे दुःख भी हुआ और हर्ष भी। अपना प्रेम प्रकट करने का मुझे अवसर मिला। उस हर्ष में मैंने तुरंत ही कहा कि लो, मैं तो दाल और नमक सालभर के लिए छोड़ चुका, तू छोड़ या न छोड़।" तब बा बोल उठीं : "मुझे माफ करो, आपका स्वभाव जानते हुए भी मेरे मुँह से निकल गया। अब मैं तो दाल और नमक न खाऊँगी, पर आप अपनी प्रतिज्ञा वापस ले लें।"

गांधीजी कहते हैं : "इसे मैं 'सत्याग्रह' के नाम से जतलाना चाहता हूँ।"

सत्याग्रह की बुनियाद में प्रेम होता है, यह बात इस प्रसंग पर से खूब स्पष्ट हो जाती है। इतना मीठा सत्याग्रह प्रेम का प्रकर्ष है। सत्याग्रह से वात्सल्य का चित्र प्रकट होना चाहिए। एक माता अपने बालक को वात्सल्य से स्तन-पान करा रही है, यह देख प्रत्येक को आनन्द होता है, प्रसन्नता होती है। 'करुणा, प्रेम और दया का कार्य हुआ' यह सुनते ही ऐसा आनन्द होता है, मानो कानों ने अमृत-रस चखा हो, जब कि 'खून

हो गया' सुनकर किसीके कानों को अच्छा नहीं लगता, सुनते ही अरुचि पैदा होती है। बाद में देखने पर भले ही ये विचार आयें कि यह बचाव करने जैसी बात है या नहीं, अपने रक्षण के खातिर उसे ऐसा करना पड़ा आदि। ये मुद्दे बाद में छनकर आते हैं, जिनमें कुछ तो इसका बचाव करते हैं और कुछ नहीं भी करते। लेकिन प्रथम श्रवण में तो सबका मतैक्य होता है कि बुरा हुआ। इसी प्रकार जब प्रेम-कार्य होता है, तो प्रथम श्रवण में ही सबको लगता है कि अच्छा हुआ। इसी तरह 'अमुक जगह सत्याग्रह हो रहा है' यह सुनकर माधुर्य और प्रसन्नता का ही सर्वसामान्य अनुभव होना चाहिए। 'सत्याग्रह' शब्द सुनते ही मधुर लगना चाहिए। श्रवण सुन्दर होना चाहिए। श्रवणमात्र से ऐसा असर हो, फिर उसकी कृति से, उसके अमल से अधिक ऊँचा परिणाम हो। प्रत्येक को ऐसा लगेगा, यह नहीं कहता, क्योंकि चित्त विविध होता है। कोई चित्त इतना मोहग्रस्त भी हो सकता है, जिसमें परम मंगल-कार्य का भी उलटा ही प्रत्याघात हो। लेकिन सामान्य तौर पर सत्याग्रह की बात सुनते ही ठंडक पहुँचनी चाहिए।

सत्याग्रह की प्रक्रिया सौम्य, सौम्यतर, सौम्यतम हो

मेरा कहना तो यह है कि सत्याग्रह की प्रक्रिया उग्र, उग्रतर और उग्रतम होती जाने के बदले सौम्य, सौम्यतर और सौम्यतम होती जानी चाहिए। हिंसा में एक प्रयोग हुआ और सफलता न मिली, तो अधिक तीव्र प्रयोग किया जाता है और वह भी सफल न हुआ, तो तीव्रतम प्रयोग करते हैं। जब कि अहिंसा में एक प्रयोग किया और परिणाम नहीं आया, तो सौम्यतर और सौम्यतम प्रयोग करना चाहिए। होमियोपैथी का विश्वास है कि औषधि में उत्तरोत्तर अधिक-से-अधिक शक्कर मिला और दवा की मात्रा कम करते हुए उसे घोटा जाता है, तो उसकी 'पोटेन्सी' बढ़ती जाती है। मैं मानता हूँ कि होमियोपैथी की

यह प्रक्रिया अहिंसा पर लागू होती है। अहिंसा की मुख्य लड़ाई बाहर नहीं, लेकिन सामनेवाले के और अपने हृदय में होती है।

देखिये न, माँ क्या करती है? वह दो-चार बार बच्चे से कहती है: "बेटा, उठो, जागो।" फिर भी वह जागता नहीं, तो माँ उसे हिलाती है। शब्द के बाद जो स्पर्श होता है, वह हिंसा का नहीं, प्रेम का स्पर्श है। प्रेम जब अपने सूक्ष्म स्वरूप में हार जाता है, तब स्थूल स्वरूप प्रकट करता है। पाँच रुपये से काम नहीं चलता, तो दस रुपया निकालते हैं। लेकिन पाँच रुपये से काम न चले और उसके बदले छह तमाचे जड़ दें तो यह धमकाना हुआ, हिंसा हुई। पाँच कदम काफी न हों, तो छह कदम चलिये, दस चलिये, लेकिन रास्ता तो वही रहेगा। सामने जितनी जड़ता अधिक, उतना ही चैतन्य अधिक प्रकट करना पड़ता है। उसमें डराने-धमकाने की कोई बात है ही नहीं। मुझे तो अन्तरात्मा को जगाना है और जगाना ही सत्याग्रह-पद्धति है।

सम्यक् चिन्तन में अहिंसक सहयोग

ईसा Resist not evil—'अनिष्ट का प्रतीकार न करो' यह कहकर रुक गये। लेकिन इसका अर्थ यह भी किया गया कि 'अनिष्ट का प्रतीकार अनिष्ट से न करो।' गांधीजी ने भी ऐसा ही अर्थ किया। वह ठीक है। किन्तु आज सन्दर्भ भिन्न है। दुनिया में आज आवेश के नहीं, लेकिन एक विचार के दूसरे विचार पर हमले होते हैं और उनके प्रचार के लिए शस्त्रास्त्रों का उपयोग किया जाता है। तब 'अनिष्ट का प्रतीकार न करो' यहीं वाक्य पूरा करके Non-violent resistance—'अहिंसक प्रतीकार' के बदले Non-violent assistance in right thinking—'सम्यक् चिन्तन में अहिंसक सहयोग' की बात कहनी चाहिए। सम्यक् चिन्तन में मदद करने के लिए कभी-कभी बाहर से विरोध करना पड़ता है, असहयोग करना पड़ता

है तो वह किया जाय, लेकिन उसका स्वरूप 'सम्यक् चिन्तन में अहिंसक सहयोग' का ही हो। अपने को और सामनेवाले व्यक्ति को भी ऐसा अनुभव हो कि यह मनुष्य सम्यक् रूप से विचार करने में हमारी मदद कर रहा है।

आज तो हिंसा में भी सब-कुछ गणितपूर्वक और स्वस्थतापूर्वक करना पड़ता है। उसमें भी आवेश का तनिक काम नहीं। एक जगह बैठे-बैठे दूर-दूर तक बैलेस्टिक शस्त्र भेजे जाते हैं। उसमें जरा भी आवेश आ जाय तो शस्त्र कहीं-का-कहीं चला जाय और बनती बाजी बिगड़ जाय। जब हिंसा में ऐसी बात है तो अहिंसा में तो आज बिलकुल आवेश काम का नहीं। जो हो रहा है, वह भी विचारपूर्वक हो रहा है, इसलिए उसके प्रतीकार का जहाँ सवाल आता है, वहाँ सम्यक् विचार की ही जरूरत है। सत्याग्रह द्वारा हमें किसीके विरुद्ध कुछ करना अथवा किसी पर दबाव डालना नहीं है, लेकिन ऐसे सम्यक्-चिन्तन में मदद करनी है।

मूल में सत्यग्राही बनना पड़ेगा

इसलिए मुझे यह 'सत्याग्रह' शब्द उतना पसन्द नहीं है। इसमें जो 'आग्रह' शब्द है, वह भूल से आ गया है। लेकिन यह शब्द चल पड़ा है, इसलिए इसीको चलाते हैं। जीवन का स्वरूप है, सत्य-शोधन। सत्य का एक-एक अंश हाथ में आता है, पूरा सत्य एक साथ हाथ में नहीं आता। यह सत्य प्राप्त होता है—नम्रता, तटस्थता और अनाग्रह से।

इसलिए मेरा कहना तो यह है कि सत्याग्रही को 'सत्यग्राही' होना जरूरी है। बाकी कोई यह माने कि 'सत्य का ताम्र-पट मुझे मिल गया और अब मुझे ही उसका आग्रह रखना है, उससे चिपके रहना है; बस, मेरे लिए इतना ही करने को रह जाता है, सत्य तो ग्रहण हो चुका और वह मेरे पास है'—तो वह ठीक नहीं। इसके बदले हमें यह समझना चाहिए कि सत्य तो व्यापक है और

वह सर्वत्र है। जहाँ-जहाँ वह हो, वहाँ-वहाँ से उसे ग्रहण करना सत्यग्राही भूमिका है। सत्याग्रह-सम्बन्धी यह प्राथमिक आवश्यकता है। स्वयं सत्य को ही अपना आग्रह करने देना चाहिए।

दूसरों को तकलीफ दिये विना स्वयं सहन करना और समझाना, यही सत्याग्रह है। सत्याग्रह में तो सत्य का आचरण स्वयं आग्रहपूर्वक करना चाहिए, जिससे सामनेवाले का हृदय पिघल जाय। इसके लिए चाहे जैसे त्याग की तैयारी हो। यही सही सत्याग्रह है। पांडिचेरीवाले कहते हैं न कि 'एक योगी यदि अतिमानस की भूमिका से काम करता हो, तो जगत् के सारे दुःख-क्लेशों पर उसका असर पड़ा सकता है', यही बात गांधीजी सीधी-सादी भाषा में यों कहते थे कि 'यदि एक भी पूर्ण सत्याग्रही हो तो उससे जगत् के सारे अन्याय दूर हो सकते हैं।' मैं भी मानता हूँ कि यदि एक भी सच्चा सत्याग्रही दुनिया में होगा, तो उसका असर सारी दुनिया पर पड़ेगा। दुनियाभर का हृदय पिघलेगा, लेकिन उसके हृदय में दुनिया के लिए प्रेम होना चाहिए।

सत्याग्रह तो नित्य-निरन्तर चलता है

इस पर से ध्यान में आयेगा कि सत्याग्रह कोई नैमित्तिक नहीं, एक नित्य वस्तु है। वास्तव में देखा जाय तो ग्रामदान का जो काम इस समय चल रहा है, वह एक प्रकार का सत्याग्रह ही है। यह निर्वैर प्रतीकार और सत्याग्रह का एक अंग है। गाँव-गाँव जाना, लोगों को विचार समझाना, यह सब सत्याग्रह ही है। यह एक रचनात्मक सत्याग्रह है। जो मनुष्य स्वयं अपने जीवन में सत्य पर चलने का आग्रह रखता है, उसका सत्याग्रह अविरत चल रहा है।

वापू भी ऐसा ही कह गये हैं। उन्होंने कहा है कि सत्याग्रह नित्य वस्तु है, जीवन की वस्तु है, सत्याग्रह एक निष्ठा है। इसलिए सत्याग्रह प्रतिक्षण के लिए स्वीकार्य, आदरणीय

एवं स्वागतार्ह होना चाहिए। मनुष्य के जीवन में जितने क्षण बिना सत्याग्रह के जायेंगे, उतना जीवन बेकार गया–यह सत्याग्रह का स्वरूप होना चाहिए।

मैंने केवल विवरण किया है

इतनी व्यापक है सत्याग्रह की कल्पना। हमारे सारे काम का सार निकालना हो अथवा एक ही शब्द में कह देना हो तो वह है–सत्याग्रह। ऐसा एक महान् विचार महात्मा गांधी ने दिया। मैंने उसका थोड़ा-सा विवरण मात्र किया है, उसे कुछ शब्द दिये हैं, जो चिन्तन में अनुकूल होते हैं और जिनसे समझने में मदद मिलती है। लड़का पिता के कंधों पर खड़ा है, इससे वह पिता की अपेक्षा दूर का देख सकता है। लेकिन मैंने उसमें कोई वृद्धि नहीं की। अगर की होती तो आपसे अवश्य कहता। व्यर्थ विनय जैसी कोई चीज ईश्वर-कृपा से मुझमें नहीं है। कोई नयी चीज मुझे मिली होती, तो मैं कहता कि यह चीज बापू के दर्शन में नहीं थी, जो मुझे मिली है। लेकिन ऐसा कुछ है नहीं। सत्याग्रह का विचार गांधीजी का ही था, जिसमें मैंने कोई वृद्धि, परिवर्तन या शुद्धि नहीं की, केवल विवरण किया है।

एक सिद्धान्त का विवरण होता रहता है, यह हम भारत के इतिहास में देखते हैं। जिस प्रकार गंगा की धारा को हम बहती देखते हैं, उसी प्रकार शब्दों की धारा भी हम देख सकते हैं। कभी-कभी विवरण इतना नया हो जाता है कि उसके कारण ही मूल शब्द आकर्षक बन जाता है। तब ऐसा लगता है, मानो नया ही शब्द प्रस्फुटित हुआ है। वास्तव में मूल शब्द की ही यह खूबी माननी चाहिए, जिसके भीतर इतना विवरण सुप्त रूप में निहित था।

वैज्ञानिक यह बात जानते हैं। उन्हें मालूम है कि मेंढ़क की पूर्वावस्था की अपेक्षा उसकी उत्तरावस्था बिलकुल भिन्न होती

है। प्राणी तो वही होता है, लेकिन वही अनेक अवस्थाओं को पार कर अब इस अवस्था में आया है। खैर, मुझे कहना यह है कि सत्याग्रह के विषय में गांधीजी के विचारों में मैंने कोई खास फर्क नहीं किया, केवल विवरण किया है। ●

८. शान्ति-सेना का अक्षय बीज

महात्मा गांधी सूर्य की तरह असंख्य किरणोंवाले थे। उनके चिन्तन के परिणामस्वरूप देश के सामने अनेक काम आकर खड़े हो गये। उनकी प्रतिभा इतनी असाधारण तो थी ही कि उन्हें कवि की ही उपमा देनी पड़ेगी। उनकी प्रतिभा कवि की तरह 'नवनवोन्मेषशालिनी'—नयी-नयी स्फुरणाओंवाली थी। बिलकुल वृद्धावस्था में भी उनके प्रतिभाशाली मस्तिष्क में एक-से-एक बढ़कर कल्पनाएँ सूझती ही रहीं। उनकी कल्पनाओं में से एक कल्पना थी शांति-सेना की।

महान् कल्पना अक्षय बीज जैसी होती है। उसमें से अंकुर फूटने में समय लगता है। जिनमें अंकुर जल्दी फूटते हैं, वे पौधे मर भी जल्दी जाते हैं। दीर्घजीवी वृक्षों के अंकुर फूटने में समय लगता है और वे बढ़ते भी धीरे-धीरे हैं। इसी प्रकार जो विचार अधिक शक्तिशाली और अधिक चिरजीवी होता है, उसे जन-मानस में उगने में समय लगता है। वे बोने के साथ उगते नहीं दीखते। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि उनका लोप हो जाता है। वे तो भूमि में एकरूप हो जाते हैं। भूमि के अंदर परमेश्वर इनका विकास करता है।

कुछ विचार अक्षय होते हैं, जब कि कुछ विचार क्षीण होते हैं। क्षीण विचार जल्दी उग आते हैं। लेकिन वे आते-जाते हैं। इतिहास में इनके लिए कोई स्थान नहीं। उस जमाने के छोटे-मोटे इतिहासकार इनके बारे में कुछ लिखें और पढ़नेवाले पढ़ें, लेकिन लंबे समय के लिए इनका कोई अस्तित्व ही नहीं रहता। विचार-क्षेत्र में ऐसे छोटे-छोटे क्षीण विचार कोई सामर्थ्य नहीं दिखाते।

विचार के भव्य मंदिर के गर्भगृह में तो आत्म-देवता का

वास है। इस देवता के आसपास तो गंभीर विचार ही लिपटे हुए होते हैं। जीवन की अन्य छोटी-छोटी बातें और छोटे-छोटे विचार तो मंदिर के आँगन में ही पड़े रहते हैं। मंदिर के गर्भ-गृह में इनका प्रवेश नहीं हो सकता। क्या जाने क्यों, अक्षय विचार किसी एक गुफा में ही छिपा रहता है। तुरत दीखता नहीं, लेकिन बाद में प्रकट होता है। ऐसा गांधीजी का बोया हुआ एक अक्षय बीज है, यह शांति-सेना का विचार।

शान्ति के साथ 'सेना' शब्द जोड़ दिया !

गांधीजी कोई बड़े विद्वान् नहीं थे। वे शास्त्र नहीं जानते थे। लेकिन उनके शब्द भारतीय शास्त्रों में से निकलते थे। बहुत बार सन्तों की वाणी में भी वेद से सम्बद्ध शब्द प्रकट हो जाते हैं। ऐसा ही यह 'शांति-सेना' शब्द है। जो पाँच-दस शब्द हमें बापू ने दिये, उनमें से यह एक है। यह शब्द ठीक-ठीक ध्यान में रखने जैसा है। आज शांति की बात तो सब कोई करते हैं, लेकिन यह 'बेचारी' बन गयी है। उसमें सेना की शक्ति नहीं। गांधीजी की शांति और अहिंसा ऐसी 'बेचारी' नहीं थी। इसीलिए उन्होंने 'शांति' के साथ 'सेना' शब्द जोड़ दिया।

'सेना' शब्द वेद में भी आता है : **'असेन्या वः पणयो वचांसि'**–हे कृपणो, तुम्हारा बोलना असैन्य है, सेना-रहित है। यानी तुम्हारी वाणी में ताकत नहीं या बोलने में संगति नहीं है। 'सेना' शब्द का अर्थ है, मर मिटने की तैयारी से इकट्ठे हुए लोग, जिनमें संगति होती है। शांति-सेना का चाहे जितना सौम्य अर्थ करें, तो भी कम-से-कम इतनी बात तो रहती ही है कि वक्त आने पर पीछे हटे बिना मर मिटनेवाले सैनिकों की सेना।

हिंसा की शक्ति किसमें है ? मान लें कि अमुक जगह खतरा खड़ा हो गया है। हिंसा के पास ऐसा तंत्र एक पैर पर

खड़ा है, जिससे दो, चार या दस हजार का दल वह एकदम उपस्थित कर सकती है। यह दल एक ही मनुष्य की आज्ञा के अधीन आगा-पीछा देखे बिना काम करता है। 'सेना' की ताकत इसमें है।

रामजी का ज्ञानपूर्वक, हनुमान् का श्रद्धापूर्वक

पूछेंगे कि क्या अहिंसा में ऐसी ताकत आ सकती है? शांति-सेना का ऐसा संगठन खड़ा हो सकता है? यह भी सवाल उठता है कि क्या किसीकी आज्ञा से बलिदान देने की तत्परता आ सकती है और इस प्रकार के बलिदान में क्या बलिदान देनेवाले का हृदय प्रेम से भरा होगा? क्या ऐसा काम आज्ञा से हो भी सकता है? मेरा जवाब यह है कि स्वतंत्र चिन्तन से यह होना जितना संभव है, उससे लेशमात्र कम आज्ञा से होने में नहीं। रामजी जो काम ज्ञानपूर्वक कर सकते हैं, वह और उतना ही प्राणवान् काम हनुमान् श्रद्धा-पूर्वक कर सकते हैं। बापू ने जब 'शांति' के साथ 'सेना' शब्द जोड़ दिया, तो उसमें संगठन, अनुशासन और सेनापति के आदेशानुसार काम करने की बात आती ही है।

इस बारे में गांधीजी के साथ मेरी जो बातचीत हुई थी, उसे संक्षेप में यहाँ बता देना ठीक होगा। सन् १९४२ के आंदो-लन के पहले की बात है। गांधीजी का विचार था कि इस बार जेल में जाऊँगा, तो अंदर पैर रखते ही उपवास शुरू कर दूँगा। जेल में पड़े रहने की बात अब पुरानी हो गयी। हम अंग्रेजों का राज्य मान्य नहीं करते और उनको यहाँ से चले जाने को ही कहते हैं, तो अब जेल में जाने के साथ ही उप-वास करना है। यह सब उनके मन में चल रहा था।

यह कौन कर सकता है? बलिदान तो वही कर सकता है, जिसके दिल में प्रेम भरा हो। कोई एक व्यक्ति कर भी सकता है, लेकिन क्या उसका आन्दोलन भी चल सकता है? क्या

प्रेमपूर्वक उपवास करके मृत्यु को गले लगाने का जन-आन्दोलन हो सकता है? सेना में लाखों लोगों की भरती हो सकती है, तो क्या इसमें भी ऐसा हो सकता है? गांधीजी को लगा कि ऐसा हो सकता है और इसका आरंभ स्वयं से ही होगा। उपवास का आरंभ बापू ही करेंगे, यह बात मालूम होते ही सब घबरा गये। सब सोच रहे थे कि किसी-न-किसी उपाय से इसे रोका जाय, कम-से-कम बापू तो उपवास न करें। फिर, उपवास की शृंखला आगे नहीं चल सकती, अथवा उपवास के लिए सेना नहीं बन सकती, आदेश से ऐसे काम नहीं होते—इस प्रकार के विचार बापू के आसपासवालों के थे।

ऐसी स्थिति में बापू ने मुझे बुलाया और अपनी बात मेरे सामने रखी : "मुझे ऐसा करना है।" सवाल यह था कि "जो काम ज्ञानी ज्ञानपूर्वक कर सकता है, क्या वही काम अनुयायी श्रद्धा से कर सकता है?" मैंने जवाब दिया : "जी हाँ, कर सकता है।" तब मैंने यह दृष्टांत दिया था कि जो काम रामजी ज्ञानपूर्वक कर सकते हैं, वही काम हनुमान्‌जी श्रद्धापूर्वक कर सकते हैं। बात पूरी हो गयी और कुछ अधिक विचार करने को रहा नहीं। मैं उठकर चला गया। बापू के साथ तो मेरी इतनी ही बात हुई। मैं कोई वचन से बँधा नहीं था कि बापू ऐसा करेंगे तो मुझे क्या करना चाहिए।

फिर तो ९ अगस्त का दिन आ पहुँचा। बापू गिरफ्तार हो गये। लेकिन तब उनके मन में था कि अभी उपवास न किया जाय, समय पकेगा, तब करेंगे। शुरू में तो सरकार के साथ कुछ पत्र-व्यवहार चलेगा—जब कि मेरे साथ उनकी, जैसा कि ऊपर उल्लेख आया है, बात हो गयी थी कि इस बार तो जेल में जाते ही उपवास पर उतरना है।

बापू ने मान ही लिया था कि...

उस समय प्यारेलालजी बाहर थे। बापू ने उनसे कहा कि

विनोबा के पास खबर पहुँचाओ कि जेल में प्रवेश करते ही उपवास शुरू नहीं करना है। उन्होंने मान ही लिया था कि यह मनुष्य मेरे साथ इतनी चर्चा करके गया है, इसलिए वह तो जेल में जाते ही उपवास शुरू कर देगा। उन्होंने कोई आज्ञा तो नहीं दी थी, लेकिन उन्होंने मेरी सलाह पूछी थी कि क्या ऐसा हो सकता है? और मैंने कहा कि "हाँ, हो सकता है।" इसलिए आज्ञा से अधिक कीमती चीज मिल चुकी थी। यह चीज किसी तरह भी 'कमांड'–आदेश से कम नहीं थी।

उसी दिन मैं भी जेल में गया। जेल में जाते ही मैंने जेलर से कहा: "आप तो मुझे जानते ही हैं। जेल के तमाम नियमों का मैं बारीकी से पालन करनेवाला और दूसरों से करानेवाला भी हूँ। लेकिन इस बार ऐसा नहीं होगा। सवेरे तो मैं खाकर आया हूँ, इसलिए दोपहर के भोजन का सवाल नहीं। लेकिन शाम से मैं भोजन नहीं करूँगा। कब तक नहीं करूँगा, यह नहीं जानता। यह आपका अनुशासन तोड़ने के खातिर नहीं, लेकिन मेरा अपना एक अनुशासन है उसे पालने के लिए करना है।" इतना कहकर मैं भीतर चला गया।

दो घंटे बाद बुलावा आया। बापू का कहा हुआ संदेश प्यारेलालजी ने किशोरलालभाई के पास भेज दिया था, क्योंकि उस समय किशोरलालभाई वर्धा में थे। किशोरलालभाई ने डिप्टी कमिश्नर से पूछा और उन्होंने गवर्नर से पूछा कि "ऐसा संदेशा दे सकते हैं?" गवर्नर ने कहा: "दे सकते हैं, शर्त यही है कि एक शब्द भी अधिक न बोला जाय, मुलाकात भी नहीं, केवल इतना ही कह दिया जाय कि उपवास न करने का बापू का आदेश है।"

डिप्टी कमिश्नर ने कहा: "ठीक, आपका संदेश पहुँचा दिया जायगा।"

किशोरलालभाई ने कहा: "यों तो वे आपके कहने से नहीं मानेंगे, हममें से किसीको जाना पड़ेगा।"

बाद में बालुंजकर आये और उन्होंने बापू का संदेश सुनाया। इस तरह मेरा यह उपवास नहीं हुआ। बाद में जब बापू ने उपवास शुरू किये, तब मैंने भी शुरू कर दिये। लेकिन यहाँ मैं अपने हृदय की अनुभूति व्यक्त करना चाहता था कि जितने आनन्द से बापू उपवास करते, उससे लेशमात्र कम आनन्द मेरे उपवास में नहीं होता, यह मेरा दावा है।

अब, ज्ञान तो मुझे नहीं था, वह तो गांधीजी के पास था, लेकिन मैंने तो श्रद्धा से माना था। मैंने इसे आदेश माना। इस घटना से मैं कहना यह चाहता हूँ कि श्रद्धा से आज्ञा मानकर अत्यन्त आनंदपूर्वक और प्रेमपूर्वक अपना बलिदान दिया जा सकता है, इसमें मुझे कोई शंका नहीं। आज्ञा से यह काम हो सकता है, इसमें तो शंका है ही नहीं। अहिंसा को ऐसी शक्ति दिखानी होगी। तभी सेना खड़ी हो सकेगी। शांति-सेना की कल्पना देकर गांधीजी ने अहिंसा की सेना खड़ी करने की बात कही है। उन्हें तो अहिंसा की पूर्ण शक्ति प्रकट करनी थी।

गांधीजी की अहिंसा एकांगी नहीं थी

गांधीजी ने अहिंसा को खाने-पीने या चौके तक ही सीमित नहीं रखा। मलहम-पट्टी करने या बीमार की सेवा करने या थोड़ी-बहुत मदद पहुँचाने तक मर्यादित नहीं रखा। बल्कि उन्होंने अहिंसा में वीरता दाखिल की और इसलिए उनकी अहिंसा में इतनी ताकत पैदा हुई कि सामने हमला होने पर भी हम वहाँ दौड़ जायँ और सो भी हाथ में कोई हथियार लिये बिना। हम प्रेम और निर्भयतापूर्वक काम करेंगे और मरने का मौका आया तो मर भी जायँगे। गांधीजी ने हमें ऐसे सबक सिखाये हैं।

सबसे बड़ी बात यह कि आज वातावरण में हिंसा व्याप्त है और लोगों का विश्वास होता जा रहा है कि हिंसा से कितने ही काम सध जाते हैं। हिंसा से कुछ काम तो बनेगा ही। वह तो पहले भी होता था और आज भी होता है। लेकिन यह सारा

निकम्मा काम है और यदि ऐसा हुआ, तो भी देश का तो कुल मिलाकर नुकसान ही होगा। यह सब अहिंसा की विचार-सरणी में आता है। आजकल अहिंसा की इस विचारधारा का बड़ी तेजी से खण्डन हो रहा है। बातों में तो सब कोई अहिंसा स्वीकार करते हैं, लेकिन वास्तव में देखा जाय तो हिन्दुस्तान की मानसिक स्थिति आज डाँवाडोल है। गांधीजी की पैदा की हुई श्रद्धा आज दोनों प्रकार से टूट रही है। कुछ लोग इस श्रद्धा को एकांगी मानकर छोड़ रहे हैं, जब कि कुछ लोग इस श्रद्धा का अपने अनुकूल व्यावहारिक अर्थ कर रहे हैं, और फिर भी समझते हैं कि हम गांधी-विचारों का व्यवहारानुकूल अनुकरण कर रहे हैं।

नायकम्‌जी ने मुझे बाइबिल के प्रचार की बात सुनायी थी। हरएक ईसाई सैनिक के पास बाइबिल होती है। यह बिलकुल ढोंग है, यह कैसे कह सकते हैं? लड़ाई देश की पुकार है, देश की आवश्यकता है, यह तो माना ही जाता है। अतः करुणावान् मनुष्य भी इसमें भरती होते हैं। साथ ही बाइबिल भी पढ़ते रहते और मानते हैं कि फौज में भरती होना हमारा कर्तव्य है। उन्होंने मन को मना लिया है।

गांधीजी ने हमें अहिंसा का जो विचार दिया है, उसकी दशा भी ऐसी ही हो रही है। कुछ लोग इसे पहले से एकांगी मानते थे, आज भी मानते हैं और ऐसा कहकर छोड़ देते हैं। दूसरी ओर, कुछ लोग इसे पहले भी अच्छा मानते थे और आज भी अच्छा मानते हैं, लेकिन व्यवहार में अमल के लिए उसे अमुक हद तक छोड़ना ही पड़ता है, यह मानकर छोड़ रहे हैं।

गांधी-विचार का नमक खानेवालों का कर्तव्य

इस तरह अहिंसा का विकास कभी नहीं हो सकता। एक ओर तो साधन-शुद्धि और साध्य-साधन की एकता आदि तत्त्वज्ञान भी गांधीजी के नाम पर चलता है, दूसरी ओर व्यवहार में

कसौटी का मौका आने पर हम चुप बैठे रहें और सारा इंतजाम पुलिस और सेना करे, यह कैसी बात है ? कोई पथराव करते हैं, तो कोई गोलीवार करते हैं। अहमदावाद में दंगे हो रहे हों और हम हाथ पर हाथ रखकर घर में बैठे रहें, फिर भी अपने को गांधीवादी कहलाते रहें ! वहाँ कोई ऐसा व्यक्ति खड़ा नहीं होता, जो बीच में पड़े और कहे कि यह क्या कर रहे हो ? लोग वात करते हैं कि अहमदाबाद में वे लोग आये और वाद में खादी-भंडार जलाने लगे। लेकिन मेरी समझ में नहीं आता कि ऐसा कोई खड़ा क्यों नहीं हुआ, जो कहे कि भाई, तू खादी को जलाता है, तो उससे पहले मुझे जला ? क्या सारे देश की जवावदारी पहले स्टेट, सरकार को अर्थात् पुलिस और फौज को सौंपकर हमें घर पर ही बैठे रहना है ? क्या इस तरह अहिंसा टिकेगी ?

वास्तव में गांधीजी के खादी-ग्रामोद्योग, हरिजन-सेवा आदि रचनात्मक कामों के पीछे एक विचार है। खादी कपड़ा नहीं, एक विचार है। उसके पीछे अहिंसा का विचार है। इसलिए जिन्होंने गांधी-विचार का नमक खाया है, वे शांति का काम उठाये विना कैसे रह सकते हैं ? जो शान्ति-स्थापना की जवाव-दारी नहीं उठाते, उन्होंने गांधी-विचार का नमक नहीं खाया, अथवा वे गांधी-विचार के लिए नमकहराम हैं !

शान्ति-सेना की कल्पना के पीछे का विशाल दर्शन

गांधीजी हमेशा कहते थे कि अहिंसा तो वीरों की होनी चाहिए। लेकिन स्वराज्य-प्राप्ति के समय जव उन्होंने देखा कि सर्वत्र अंधी अहिंसा का ही वोलवाला है और सव रटने लगे हैं कि शस्त्रों के सिवा अव कुछ नहीं होनेवाला है, तव गांधीजी ने कह दिया कि भगवान् ने मेरी आँखों पर पट्टी बाँधकर स्वराज्य लाने का काम करवा लिया, वाकी मैं तो भ्रांति में पड़ गया। अहिंसा तो वीरों की ही चाहिए। हमारी

अहिंसा निर्बलों की अहिंसा थी, इसलिए तकलादी (नाजुक) साबित हुई, ऐसा गांधीजी को कहना पड़ा।

अतएव हम जो उनके अनुयायी कहलाते हैं, उन्हें वीरों की अहिंसा व्यवहार में आचरण द्वारा प्रकट करनी होगी। आज तो अहिंसा और करुणा दासी बन गयी है। यह अधिक-से-अधिक रेडक्रास का काम करती है। राज हिंसा का ही चलता है। गांधीजी को यह मान्य नहीं था। उन्हें तो सर्वत्र अहिंसा का और करुणा का राज्य फैलाना था। यदि यह युद्ध का अन्त ला सके, तो यह सच्ची करुणा कहलायेगी। हमारी करुणा और अहिंसा तो ऐसी हो, जो सारी दुनिया को कारुण्यमय और अहिंसक बनाने की हिम्मत करे। अपने कारुण्य से हम एटम, हाइड्रोजन बम खतम करेंगे। हममें ऐसी हिम्मत दिलानेवाली करुणा ही चाहिए। करुणा की और अहिंसा की ऐसी शक्ति हम पैदा करना चाहते हैं और इसीलिए शान्ति-सेना की योजना है। उसकी कल्पना के पीछे ऐसा एक विशाल दर्शन है।

सेना-मुक्ति का पहला सोपान

गांधीजी ने सेना-मुक्ति की बात कही थी। उनके नेतृत्व में हम स्वराज्य की माँग करते थे। उसमें एक बात यह थी कि हम सेना का खर्च आधा कर देंगे। देश को गुलाम रखने के लिए अंग्रेजों को बड़ी सेना रखनी पड़ती है। लेकिन देश आजाद होगा तो हम सेना कम रखेंगे। अंग्रेजों के रक्षा-बजट के नीचे देश पिस रहा है, इससे हम देश को बचायेंगे। कांग्रेस ऐसी भाषा बोलती थी। पर आज वह कौन-सी भाषा बोलती है? स्वराज्य में सेना का बजट कितना है? आधा हुआ या बढ़ गया?

लेकिन आज हम ऐसा कुछ सोचने तक की हिम्मत नहीं करते, क्योंकि हम अपने मन में ही आजाद नहीं हैं। कुछ कारण भय भी है। भीतर ही भीतर जैसा प्रेम हिन्दुस्तान में चाहिए, वैसा नहीं है। अगर हिन्दुस्तान एकरस हो, सबमें एकता हो,

तो देश की ताकत प्रकट हो। पहले की तरह ही आज भी भारत असंख्य भेदों में फँसा, उलझा हुआ है। गांधीजी के प्रयत्नों से थोड़ी-सी एकता पैदा हुई, उसके कारण स्वराज्य के दर्शन हुए। लेकिन यह एकता ऊपर-ऊपर की थी। स्वराज्य-प्राप्ति के वाद कैसे-कैसे झगड़े होते हैं, यह सभी जानते हैं। ऐसे कुछ भय-स्थान देश के भीतर ही पड़े हैं। ऐसा सव हो, तो सेना का खर्च घटाने की हिम्मत नहीं हो सकती।

मेरा इतना ही कहना है कि आज-के-आज सेना का विघटन न हो पाता हो, तो आज वह भले ही रहे, लेकिन कल तो वह नष्ट होनी चाहिए न ? लेकिन जब तक आप शस्त्र का आधार छोड़ न देंगे, तब तक यह कभी नहीं हो सकता। इसलिए हमें देश के अंतर्गत अहिंसा की ताकत खड़ी करनी चाहिए। कम-से-कम यह वात भारत में सिद्ध हो जाय कि देश की आंतरिक शांति के लिए पुलिस या लश्कर का उपयोग न करना पड़े, तो फिर अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अहिंसा किस तरह प्रवेश करे, इसका दर्शन हो सकेगा। लेकिन देश में जहाँ-जहाँ दंगे हो जाते हैं, वहाँ पुलिस आये और तभी शांति हो—ऐसा रहने देंगे, तो समझ लीजिये कि सेना से कभी मुक्ति नहीं मिल सकेगी और न सेना पर होनेवाला खर्च ही कभी कम हो पायेगा। अहिंसा में रक्षण की ताकत न आयेगी, तो वह रानी नहीं बन सकेगी, दासी ही रहेगी। इसलिए शांति-सेना की स्थापना हो और लोगों को भरोसा हो जाय कि उसके द्वारा आंतरिक शांति हो सकती है, तो धीरे-धीरे भीतरी बंदोवस्त के लिए पुलिस की जरूरत नहीं रहेगी। आगे चलकर सेना भी शून्य हो सकेगी। इसलिए शांति-सेना वनाना पहली आवश्यकता है।

हमेशा के लिए तो सेवा-सेना ही रहेगी

यह वापू का शांति-सेना का स्वप्न था। वे इस स्वप्न को पूरा नहीं कर सके, इसमें आश्चर्य नहीं। तव इसकी भूमिका

नहीं थी। उस भूमिका के लिए सबसे पहले देश में सेवा-सेना फैला देनी चाहिए। शांति-सेना के लिए पहली जरूरत सेवा-सेना की है। सेवा-सेना के बिना शांति-सेना की भूमिका तैयार नहीं होगी।

यह जो शांति-सेना होगी, वह भी हमेशा के लिए तो सेवा-सेना ही रहेगी। निरंतर सेवा करती रहेगी, परिचय करती रहेगी और अशांति के मौकों पर अशांति के शमन का प्रयत्न करेगी। यों तो जगह-जगह जो अशांति फूट निकलती थी, वहाँ पहुँचकर शांति के लिए अपने को होम देने की कल्पना से यह चीज निकली है। लेकिन केवल इतने भर से शांति-सैनिक नहीं बना जाता। वह तो वही बन सकता है, जो मातृवत् सबका सेवक हो। हम निरंतर वात्सल्य-भाव से सेवा करते हैं, हमारे और जनता के बीच स्नेह निर्माण हुआ है, ऐसी स्थिति में कोई कठिन प्रसंग आ पड़ता है, तो मनुष्य को प्राणों की कोई कीमत नहीं मालूम पड़ती। स्वाभाविक ही त्याग हो जाता है। उस समय उसे वह त्याग मानता ही नहीं। वह तो मानता है कि यह प्रेम-कार्य है। अतः शांति-सेना हमेशा के लिए सेवा-सेना रहेगी।

लोगों की सम्मति अवश्य मिले

यह सेना किस आधार पर खड़ी होगी ? हमारी सरकार सेना खड़ी करती है। उसके पीछे हमारी सम्मति होती है। उसका आध्यात्मिक आधार है, लोगों से प्राप्त मत (वोट) और भौतिक आधार है, जनता से वसूल किया गया कर (टैक्स)। शांति-सेना के पीछे भी ऐसा कोई आधार चाहिए। इसके लिए इतना ही काफी नहीं कि हम करुणा-प्रेरित हों और सेवा करने की इच्छा रखें। शांति-सैनिक बनकर मैं तो सबके लिए काम करना चाहता हूँ, लेकिन वही काम यदि मैं आपकी सम्मति के बिना करूँ, तो मुझमें किसी प्रकार की ताकत नहीं आयेगी। हमारी आकांक्षा

इतनी ही तो नहीं कि लोगों के बीच जाकर मर-खप जायँ, वल्कि लोगों के वीच जाकर शांति स्थापित कर सकें, यह भी हम चाहते हैं। अपेक्षा तो यह है कि हमारी उपस्थिति का लोगों के मन पर ऐसा असर हो कि शांति टिकी रहे। तो, यह मात्र सेवा का अधिकार नहीं। लेकिन जो लोगों के दिल पर नैतिक प्रभाव डालने का अधिकार चाहते हैं, उन्हें लोगों की तरफ से कुछ सम्मति मिलनी ही चाहिए। यह सम्मति कि आपकी सेवा हमें कवूल है और उसके लिए कुछ-न-कुछ करेंगे। इसके लिए मैंने 'सर्वोदय-पात्र' की योजना रखी है। वह लोक-सम्मति का प्रतीक है, हमारे काम के लिए जनता का सेंक्शन है और उसके द्वारा शांति-सेना के लिए अमुक आर्थिक आधार भी मिलता रहता है। इसलिए वास्तव में वह जनता द्वारा खड़ी की गयी सेना होगी।

जनता को सुरक्षित नहीं, स्वरक्षित बनाना है

शांति-सेना के विषय में एक वात ध्यान में रखने जैसी है। शांति-सेना के विषय में यह मानकर चलना कि जैसे मिलिटरी के आधार पर लोग सुरक्षित रहते हैं, वैसे ही शांति-सेना के आधार पर सुरक्षित रहेंगे, तो यह ठीक नहीं। इस तरह लोग सुरक्षित होंगे, तो भी स्वरक्षित नहीं वनेंगे। जव तक यह परिस्थिति रहेगी, तव तक वास्तविक शांति का अनुभव नहीं होगा। आखिर किसी गाँव या शहर की शांति की जवावदारी वहाँ के निवासियों की ही है और शांति-सैनिक भी वहीं का निवासी है, इस नाते उसकी भी है।

इसलिए गाँव-गाँव और शहरों में मुहल्ले-मुहल्ले में शांति-सेना का सुव्यवस्थित आयोजन होना चाहिए। मेरी कल्पना है कि प्रत्येक पाँच हजार की आवादी के पीछे एक शांति-सैनिक हो। उसका उस क्षेत्र में गाढ़ परिचय हो। ऐसा न हो सके, तो एक जगह के शांति-सैनिकों को दूसरी जगह भेजना कृत्रिम वात

हो जाती है। हाँ, किसी खास प्रसंग पर बाहर के शांति-सैनिक पहुँचकर स्थानीय शांति-सैनिकों की मदद कर सकते हैं। संक्षेप में शांति-सेना के काम का मूल उद्देश्य यह है कि प्रजा स्वरक्षित बने, न कि सुरक्षित। शांति-सेना का काम पुलिस या सेना का नहीं, प्रजा का अपना ही संगठन है। शांति-सैनिक प्रजा से ही बने हैं, ऐसा होना चाहिए। पुलिस और लश्कर के हाथ से हमें नागरिक जीवन को मुक्त कराना है। यह बात लोगों को ठीक से समझाकर हमें यह काम करना होगा।

जैसे आरोग्य-शास्त्र देखता है कि रोग पैदा न हो, फिर भी अगर पैदा ही हो जाय, तो उसे दूर करने की दवा खोजता है, इसी तरह शांति-सेना भी पहले देखेगी कि अशांति के कारण ही पैदा न हों। फिर भी अशांति फूट निकले तो अपना सिर देने को भी तैयार रहेगी। उस समय प्रेमपूर्वक आत्म-बलिदान की तैयारी के साथ दंगा करनेवालों के बीच जाकर उन्हें रोकने की कोशिश करनी होगी। इसमें केवल द्वेष का अभाव पर्याप्त नहीं, प्रेम चाहिए और वह भी दोनों पक्षों पर प्रेम। हम उन्हें गलत मार्ग से रोकना चाहते हैं और वे न रुके, तो पहले स्वयं अपना बलिदान देने के लिए तैयार रहें।

शांति-सेना में बहनें पुरुषों की अपेक्षा विशेष उपयोगी हिस्सा प्रदान कर सकती हैं। रण-संग्राम में तो झाँसी की रानी जैसी कोई एक-आध बहन ही जूझ पाती है, लेकिन शांति-सेना में तो प्रत्येक बहन काम कर सकती है। बहनों के दिल में दया होती है, उनका हृदय कोमल होता है। निर्दयतापूर्वक कत्ल करना उनका काम नहीं। लेकिन इस सेना में तो प्रेम का काम है। इसलिए बहनें यह सब अच्छी तरह कर सकती हैं। बापू ने भी बहनों से कितनी आशा रखी थी। श्रीकृष्ण के बाद बहनों में शक्ति जगानेवाले और उनसे आशा रखनेवाले बापू ही थे। बापू की इस आशा का स्पर्श बहनों को हो, तो वे खूब काम कर सकती हैं।

शान्ति-सेना का प्रथम सेनापति और प्रथम सैनिक

शांति-सेना की कल्पना में गांधीजी की अधूरी रही हुई वासना है। जब उन्होंने यह कल्पना प्रस्तुत की, तब हमारे जैसे उनके कमजोर साथियों को तो यह असम्भव ही लगी। और ऐसा लगा कि यह अमल में आने जैसी चीज नहीं है। यों तो उन्होंने कार्यकर्ताओं की एक बड़ी फौज ही खड़ी की थी, लेकिन शांति सेना की बात आने पर सेवकों की अच्छी खासी संख्या होते हुए भी इस काम के लिए चाहिए उतने लोग तैयार नहीं हुए, खास शांति-सैनिक नहीं मिले। लेकिन गांधीजी का तो कोई विचार ऐसा नहीं होता था, जो अमल में ही न आये। उनमें एक खूबी थी। वे कहा करते थे कि मेरी बात पर अमल करनेवाला कम-से-कम एक आदमी तो निकलेगा ही और यह 'एक' स्वयं गांधीजी ही थे। इसलिए गांधीजी ने शांति-सेना के सेनापति के आधार पर हुक्म किया और फिर स्वयं ही शांति-सेना के सैनिक के आधार पर हुक्म का पालन करते हुए निकल पड़े। यह सब हमने अपनी आँखों देखा है। इसलिए हम यह तो नहीं कह सकते हैं कि शांति-सेना के इस सेनापति की आज्ञा को सिरमाथे लेनेवाला एक भी सैनिक नहीं निकला। एक सैनिक तो निकला ही, जिसने सेवा करके अपना पथ तय कर लिया और उसका बलिदान भारतमाता के चरणों पर अर्पित हुआ। उसका बोया अक्षय बीज अवश्य बढ़ेगा। ❁

९. अहिंसा की शक्ति

क्या दुनिया में और क्या भारत में, हमेशा सन्त, सत्पुरुष हुए हैं और उन्होंने लोगों को आध्यात्मिक मूल्य समझाये हैं। लोग सुनते आये, जितना समझ सके, समझते गये; जितना अमल कर सकते थे, उतना अमल करते आये और अमल न हो सका तो इसे अपनी लाचारी मानकर मूल्यों का आदर करते आये। यह मानते रहे कि व्यवहार में यह नहीं चलेगा।

लेकिन जब युग की माँग और सन्तों के उपदेश का संयोग होता है, तब क्रांति होती है। गांधीजी के बारे में हमें यह देखने को मिला। गांधीजी ने कहा, हिंसा का प्रतीकार अहिंसा से करो, असत्य का प्रतीकार सत्य से करो। उन्होंने निःशस्त्र प्रतीकार करना सिखाया। यों तो यह पुरानी बात है, कोई नयी नहीं। यह तो हिन्दुस्तान की संस्कृति का ही फूला-फला स्वरूप है। भगवान् बुद्ध, महावीर और अनेक सन्तों ने हमें यही सिखाया। लेकिन जब गांधीजी की जबान पर यह बात आयी, तो उसका क्रांतिकारी अर्थ प्रकट हुआ, क्योंकि उसके लिए ऐतिहासिक भूमिका थी।

एक खास ऐतिहासिक भूमिका

पहले के जमाने में हिन्दुस्तान में शस्त्र थे। यह नहीं कि सबके हाथ में थे, लेकिन सबको शस्त्र रखने की छूट थी। ब्राह्मण भी चाहे तो शस्त्र रख सकते थे। लेकिन भारत ने अहिंसा का एक प्रयोग किया कि शस्त्र सीमित रहें। शस्त्रों की जरूरत तो पड़ती है। उस हालत में क्या करें? तब यह निश्चय किया कि सबके नहीं, केवल एक वर्ग के हाथ में शस्त्र रहें, बाकी सब लोग शस्त्र छोड़ दें। ऐसा एक प्रयोग भारत ने किया।

परिणाम यह हुआ कि अहिंसा का विचार भारत में पैठ गया। फिर भी 'शस्त्र द्वारा रक्षण' की बात तो कायम रही और उतने अंशों में अहिंसा दुर्बल ही रही।

लेकिन अंग्रेजों ने आकर एक बेजोड़ काम किया, जैसा पहले किसीने नहीं किया था। अंग्रेजों ने शस्त्र छीन लिये और हिन्दुस्तान की जनता को बिलकुल निःशस्त्र बना दिया। ऐसा पहले किसी भी राजा ने कहीं नहीं किया था। इसका एक कारण तो यह था कि किसी भी राजा में इतनी ताकत नहीं थी। दूसरा कारण, प्रजा को एक बार निःशस्त्र करने पर कहीं बाहर से आक्रमण हो जाय तो उसके रक्षण की जवाबदारी अकेले राजकर्ता पर आ पड़ती है। ऐसी ताकत उनमें नहीं थी, इसलिए अब तक किसीने जनता को एकदम निःशस्त्र नहीं बनाया। लेकिन अंग्रेजों ने यह किया। उन्होंने प्रजा को संपूर्ण निःशस्त्र बना दिया। किसी भी कारण, कोई भी मनुष्य, बिना अनुमति के शस्त्र रख नहीं सकता था।

ऐसी स्थिति में हिन्दुस्तान के सामने एक बड़ा सवाल खड़ा हो गया—वह या तो हमेशा के लिए अंग्रेजों का गुलाम बना रहे या फिर कोई नया अधिक शक्तिशाली शस्त्र शोध निकाले। जनता के हाथ में शस्त्र नहीं थे, इस हालत में यदि निःशस्त्र मुकाबला करने की परंपरा न होती, तो हिन्दुस्तान कायम का गुलाम रह जाता। लेकिन इतने बड़े देश के लिए हमेशा गुलाम रहना असंभव था। अतः निःशस्त्र मार्ग की खोज करने की ऐतिहासिक आवश्यकता पैदा हुई। इसीमें से महात्मा गांधी आये। वे न आये होते तो दूसरा कोई आता। यद्यपि उनकी जो शिक्षा थी और जिस समूह में से वे आये थे, उसके संस्कार की दृष्टि से तो गांधीजी का आना ही स्वाभाविक था।

गांधी : गुजरात की संस्कृतिरूपी आम का फल

गांधीजी स्वयं गुजरात की संस्कृतिरूपी आम के फल थे।

इस प्रदेश में जो तपस्या हुई, उसके परिणामस्वरूप गांधीजी यहाँ पैदा हुए थे। गांधीजी गुजरात में पके, यह कोई आकस्मिक घटना नहीं और न मात्र भाग्य की वलिहारी है। उसके पीछे एक तत्त्व है। गुजरात के दही में ही ऐसा कुछ है, जिससे ऐसा मक्खन निकल पाता है। गुजरात का सबसे ऊपर तैर आनेवाला एक गुण है, वहाँ की आम जनता द्वारा अपनायी हुई सार्वत्रिक अहिंसा। इसी कारण गांधीजी का जन्म गुजरात में हुआ है, ऐसा मैं मानता हूँ।

यों देखा जाय तो यह वहुत छोटी चीज लगती है, लेकिन गुजरात की आम जनता ने मांसाहार का पूरा-पूरा त्याग किया है—ऐसी घटना दुनिया में और कहीं देखने को नहीं मिलती। मांसाहार-परित्याग का आन्दोलन हमारे पूर्वजों ने चलाया था। हजारों वर्षों तक उन्होंने यह चलाया। इसमें उन्होंने खूब तपस्याएँ भी कीं। परिणामस्वरूप हिन्दुस्तान में आज ऐसी स्थिति मौजूद है कि मांस खानेवाले लोग हैं जरूर, लेकिन वे भी इसे गौण मानते हैं, वहुत अच्छी बात नहीं मानते। यानी शाकाहार की प्रतिष्ठा भारत में स्वीकार हो चुकी है। इतना जबरदस्त प्रयोग हिन्दुस्तान में हुआ, यह दुनियाभर में हिन्दुस्तान की विशेषता है। फिर हिन्दुस्तान में भी खासकर गुजरात की विशेषता है कि यहाँ का सामान्य जनसमुदाय भी मांसाहार छोड़ चुका है।

यह सामान्य घटना नहीं है। यह जो अहिंसा है, उसीके परिणामस्वरूप गांधीजी जैसी विभूति गुजरात में पकी और सारी दुनिया के दुःखों का निवारण एक विशिष्ट प्रकार के प्रतीकार से हो सकता है, इसका दर्शन हुआ।

जमाने की माँग का बल

खैर, मैं कह यह रहा था कि निःशस्त्र प्रतीकार के मार्ग की खोज करने की एक ऐतिहासिक आवश्यकता निर्माण हुई और

उसमें से महात्मा गांधी आये। यों तो उनकी वात लाखों लोग न मानते। वहुत होता तो उनको मुझ जैसे दो-चार चेले मिल जाते। लेकिन यह तो सारे देश में एक विचार फैला और उसका टूटा-फूटा अमल भी हुआ। अंग्रेजों द्वारा हथियार छीन लिये जाने से एक विशिष्ट परिस्थिति निर्माण हुई। इससे गांधीजी की अहिंसा की वात को जमाने की माँग का वल मिला।

यहाँ अंग्रेजों का राज्य शक्तिशाली था, उनकी पकड़ जोरदार थी। उनका मुकावला कैसे किया जाय? इसकी अहिंसक युक्ति गांधीजी ने सिखायी। उन्होंने कहा कि "हम निर्वैर भी रहेंगे और सामना भी करेंगे।" दुनिया को यह एक वड़ा विचार मिला। उसमें निर्वैरता और प्रतीकार-वृत्ति दोनों मिल गये। परिणामस्वरूप समाज के लिए एक मार्ग खुला। निर्वैरता से प्रतीकार की शक्ति वढ़ी और प्रतीकार से निर्वैरता की। गांधीजी ने हमें ऐसी युक्ति वतायी कि सारे वड़े-वड़े शस्त्र वेकार वन गये। युक्ति यह कि अंग्रेजों को राज्य चलाने के लिए हजारों आदमियों का और करोड़-करोड़ जनता का सहयोग जरूरी है, वह सहयोग देना वन्द कर दिया जाय। ऐसा करें तो चाहे जितने शक्तिशाली अंग्रेजों का कुछ न चलेगा। हम सहयोग नहीं देंगे तो वे हमें मारेंगे या सतायेंगे, फिर भी हम उन्हें सहयोग नहीं देंगे। मर जायँगे, लेकिन आपकी मरजी के मुताविक काम न करेंगे। ऐसे आत्मवल की युक्ति गांधीजी ने सिखायी।

निर्भयतापूर्वक 'ना' कहने की शक्ति

एक आदमी को राक्षस ने पकड़ा। राक्षस उससे खूव काम कराता। आराम का तो नाम नहीं। जरा चूँ-चपड़ की कि राक्षस धमकी देता कि "खा जाऊँगा।" उसे वैठने ही न देता। आखिर उस आदमी ने सोचा कि कव तक ऐसा चलेगा? इसलिए एक दिन उसने कह ही दिया कि "जा, काम नहीं करता,

तुझे खाना हो तो खा जा।" लेकिन राक्षस ने उसे खाया-वाया नहीं, क्योंकि एक वार खा जाने पर उसका काम कौन करता? वाद में आदमी को हिम्मत आ गयी। उसने कहा: "वगैर मजदूरी लिये काम नहीं करूँगा" तो राक्षस मजदूरी भी देने लगा।

संक्षेप में सार यह कि यह 'ना' कहने की शक्ति, 'आपके गलत काम में सहयोग नहीं दूँगा' यह कहने की हिम्मत, हममें आनी चाहिए। ऐसा करते हुए मरना पड़े तो मर जायँ। मृत्यु से हम न डरें। आत्मा कभी मरता नहीं, इसलिए हम नहीं मरते। मनुष्य में ऐसी निर्भयता आनी चाहिए। प्रेम से सव एक होकर निर्भयतापूर्वक सामनेवाले को जवाव दें कि आपके गलत काम में मदद नहीं करेंगे। यह है असल अहिंसा।

डरते-डरते घर में वैठे रहें और लड़ाई में न जायँ तो अहिंसा हो गयी, ऐसा नहीं। वल्कि लड़ाई में जाकर कहना चाहिए कि मैं मरने के लिए तत्पर हूँ, लेकिन मारूँगा नहीं। यह ताकत है अहिंसा की और यही खरी शक्ति है। छोटा-सा बालक भी अहिंसा की शक्ति से हिंसा के वड़े राक्षस का मुकावला कर सकता है। उसे इतना समझाना चाहिए कि 'मर जायगा तो भी क्या होनेवाला है? यहाँ कायम रहनेवाला कौन है? भगवान् ने तेरे लिए जो दिन तय किया होगा, उसी दिन मरेगा, नहीं तो नहीं मरेगा।' ऐसी अहिंसा की शक्ति के सामने अणु-शक्ति भी कुछ नहीं कर सकती। यह युक्ति गांधीजी ने सिखायी। वास्तव में यह हमारे पुरातन ऋषि-मुनियों की युक्ति है। उसे ही फिर से गांधीजी ने हमारे सामने रख दिया। उन्होंने एक कदम आगे रखा और हमें सिखाया कि यह अहिंसा तो ऐसी जवरदस्त शक्ति है कि उसके द्वारा हम वड़े-वड़े सवालों को हल कर सकते हैं। उन्होंने इस अहिंसा की शक्ति का राजनैतिक क्षेत्र में प्रयोग करके बताया।

हमें अहिंसा का आत्म-प्रत्यय नहीं हुआ

लेकिन दुनिया और भारत के लोगों को भी कुछ शंका रह गयी है कि हमें जो स्वराज्य मिला है, वह केवल अहिंसा की शक्ति से नहीं। यह सही है कि स्वराज्य की प्राप्ति में दुनिया की परिस्थिति का भी काफी हिस्सा है। लेकिन मूल बात यह कि हमें अपने भीतर चाहिए उतना अहिंसा का अनुभव नहीं हुआ। वीर को शोभा दे, ऐसा अहिंसा का प्रयोग हमने किया नहीं। गांधीजी ने हमें वीरों की अहिंसा सिखाने की कोशिश की, फिर भी हमारी अहिंसा लाचारी की अहिंसा थी। गांधीजी जिस तरह का प्रतीकार चाहते थे, वैसा प्रतीकार न हो सका। लोगों को उन पर श्रद्धा थी और लोग उनके पीछे गये। लेकिन वह बलवानों की नहीं, दुर्बलों की अहिंसा थी। गांधीजी के मार्गदर्शन में यहाँ जो अहिंसक लड़ाई चली, उसमें हमने अहिंसा का टूटा-फूटा आचरण किया। मन में तो द्वेष रखते थे और ऊपर-ऊपर से अहिंसा का आचरण दिखाते थे। परिणामतः स्वराज्य आया, फिर भी हमें प्रतीति नहीं हुई कि हमने अहिंसा से स्वराज्य हासिल किया है। इस कारण अहिंसा का मजा खतम हो गया। अहिंसा की शक्ति का कुछ चमत्कार तो हमने देखा, फिर भी उस शक्ति का हमें अपने भीतर प्रत्यय नहीं मिला।

इसीलिए आज तक हिंसा-अहिंसा के सवाल का अंतिम हल बहुतों के मन में नहीं हुआ है। सामान्यतः लोग ऐसा मान लेते हैं कि अहिंसा के बचाव के लिए थोड़ी हिंसा तो करनी ही पड़ती है। पुराने जमाने में तो भले-भले लोग ऐसा मानते थे। लेकिन आज गांधीजी के हो जाने के बाद भी हमारे मन में इस सम्बन्ध में एक समझौता हो गया है। पहले के धर्मों ने ऐसा ही किया है। उन्होंने मान लिया कि अहिंसा उत्तम है जरूर, लेकिन वह व्यक्तिगत जीवन में। समाज में तो हिंसा के साथ थोड़ा समझौता करना ही पड़ता है। ऐसा न किया हो, तो फिर रवि-

वार के दिन पूरी श्रद्धा से बाइबिल पढ़ना और शेष छह दिन नये-नये हथियार गढ़-गढ़कर उनका ढेर लगाते जाना कैसे बनता? ये बेचारे मानते हैं कि आगे चलकर जो समाज आयेगा, उसके लिए अहिंसा बहुत उपयोगी साबित होगी, लेकिन नजर के सामने जो समाज है, उसमें तो हिंसा वगैरह का व्यवहार चलाना ही पड़ेगा। इस तरह गांधीजी ने जो शिक्षण हमें दिया, उसे लोग गौण मानते हैं। इसका कारण यह है कि समाज में अभी तक नैतिक साधन की चाहिए उतनी प्रतिष्ठा नहीं हुई।

गांधी के अनुयायी या तिलक के ?

इसलिए मैं वहुत वार कहता हूँ कि हम सब गांधीजी के अनुयायी भले कहलाते हों, लेकिन वास्तव में हममें से कई तिलक महाराज के ही अनुयायी हैं। लोकमान्य ने 'गीता-रहस्य' में अहिंसा का बहुत गौरव किया है, लेकिन वाद म कहा है कि 'इसका स्थान व्यक्तिगत जीवन में है, सार्वजनिक जीवन में अहिंसा नहीं चल सकती।' हममें से वहुत सारे लोकमान्य की इस मान्यता का ही व्यवहार में अनुसरण करते हैं और समाज-जीवन में आचरण करने का सवाल आता है, तव हिंसा-अहिंसा के वारे में समझौता कर लेते हैं।

इसलिए फिर राइफल-क्लब खोलना हो, तो भी गांधीजी का नाम लेकर ही खोलते हैं। दावा किया जाता है कि 'डरकर भागने की अपेक्षा हिम्मतपूर्वक मरना बेहतर है।' और देखिये न! दिल्ली में खुद गांधीजी की समाधि के पास बंदूक-धारी सिपाही पहरा देता है। अहिंसा के पुजारी के साथ ऐसे बर्ताव से जरूर चोट लगती है। लेकिन ऐसे समय मैं तो विनोद कर लेता हूँ। मराठी में कहावत है: **'अति झालें, हसुं आलें।'** मैं विनोद में कहता हूँ कि यह तो गांधीजी की ही भूल है कि उन्होंने मरने के लिए दिल्ली पसंद की। दिल्ली में तो सब

दिल्ली के ढंग पर ही होगा न ? हाँ, ये सैनिक समाधि के प्रति आदर के रूप में अपने शस्त्र नीचे रखकर खड़े रहते हैं, इसलिए प्रतीकात्मक रूप से ऐसा अर्थ निकल सकता है कि हिंसा अहिंसा के आगे सिर झुका रही है।

क्या सुविधा का धर्म पालकर ही सन्तोष मानें ?

लेकिन वास्तव में बात यह है कि अब तक हमें अहिंसा की शक्ति का पूरा-पूरा भान नहीं हुआ। नहीं तो गांधीजी के नाम पर ऐसा न चलता। गांधीजी ने मुख्य जोर इसी बात पर दिया था कि अहिंसा का ध्यान केवल व्यक्तिगत जीवन तक ही नहीं, सार्वजिनिक जीवन में भी उसका स्थान है। बाकी, क्या अहिंसा की बातें धर्मों ने कम कही हैं ? जैन-धर्म तो व्यक्तिगत जीवन में अहिंसा का कितना बारीक विचार करता है ? प्राणीमात्र को कष्ट न हो, इसका भी खयाल रखता है। जैनी जंतुओं का नाश होना भी सहन नहीं कर सकते, जब कि दूसरी ओर वे ही लोग सेना का बचाव करते हैं। उन्होंने मांसाहार का भी निषेध किया है, लेकिन सेना तो चाहिए। इस तरह हमने सब धर्मों के साथ समझौता किया है। कहते हैं कि धर्म तो व्यावहारिक होना चाहिए; ऐसा धर्म, जो सारे धर्म का सफाया कर सकता है; ऐसा सुविधावाला धर्म, जो हमारी सुविधा के अनुसार बरते। धर्म के लिए कोई असुविधा, कठिनाई उठाने को तैयार नहीं।

लेकिन मेरा कहना यह है कि भले ही दूसरे सब ऐसा कहें, पर गांधीवाले भी ऐसा ही कहते हैं तो गांधीजी का आना और जाना सारा व्यर्थ हुआ। अगर इस तरह गांधी-विचार का अर्थ करेंगे, तो बापू पर हम बहुत अन्याय करेंगे।

हकीकत यह है कि हिंसा-अहिंसा के विषय में हमारे मन में अब तक सफाई हुई ही नहीं। इसीसे इतने वर्षों में भी देश में

हिंसा कम नहीं हुई। लोगों के मन में अब भी वह पड़ी है। लोग सोचते हैं कि गांधीजी और सुभाषबाबू इन दोनों के दो मार्ग हैं, देश को दोनों की जरूरत है और दोनों एक होंगे, तभी देश का काम होगा। वे यह मानते हैं कि जैसे हाइड्रोजन और ऑक्सीजन के संयोग से पानी बनता है, वैसे ही देश का काम पार लगाने के लिए गांधीजी और सुभाषबाबू दोनों के मार्गों की जरूरत है। आज लोगों के मन में भ्रम है कि दोनों के संयोग से ही काम चल रहा है।

अणु-युग में विज्ञान का आह्वान

लेकिन वास्तव में आज दुनिया अहिंसा की तरफ तेजी से आगे बढ़ रही है। विज्ञान ने आज मनुष्य के सामने एक समस्या पैदा कर दी है, जो पहले नहीं थी। हिंसा के जो साधन पहले मौजूद थे, उनसे कुछ प्रश्न हल होते थे, इसलिए हिंसा पलती थी। हिंसा से लाभ भी होता था, नुकसान भी। जितना लाभ होता, उतना हिंसा को आश्रय मिलता। लेकिन अब अणु-शस्त्र आये हैं, तो अब या तो अहिंसक समाज बनेगा या मानव-जाति ही खतम हो जायगी। यह समस्या विज्ञान ने मनुष्य के सामने खड़ी कर दी है। अणु-शस्त्रों के शोध के बाद आत्यंतिक हिंसा और आत्यंतिक अहिंसा एक-दूसरे के सामने हाथ बढ़ा रही है। मेरी श्रद्धा है कि ये अणु-शस्त्र मनुष्य को अहिंसा की ओर ले जायेंगे, नहीं तो मानव-जाति खतम हो जायगी। ईश्वर अगर संहार नहीं चाहता तो अहिंसक समाज-रचना अनिवार्य है। इसलिए मुझे विश्वास है कि दुनिया आज अहिंसा की तरफ तेजी से आगे बढ़ रही है।

गांधीजी की मृत्यु के बाद बहुत सन्देश आये। उनमें जनरल मॅकआर्थर का सन्देश था कि 'किसी-न-किसी दिन दुनिया को गांधीजी की बात ही सुननी पड़ेगी, उसके बिना चारा नहीं।' यह बात एक बड़ा सेनापति कह रहा है। उसे ऐसा

बोलना पड़ रहा है, क्योंकि अणु-शस्त्रों के कारण एक विशिष्ट परिस्थिति निर्माण हुई है ।

अतएव हिंसा आज बीते जमाने की चीज हो गयी है और गांधीजी की अहिंसा की वात हमारे जमाने के बिलकुल अनुकूल है । इसलिए अब यदि हम अपनी सामाजिक और आर्थिक आजादी के सवाल अहिंसा की शक्ति से हल करें, तो दुनिया में निःशस्त्र प्रतीकार असरकारक सावित होगा और दुनिया को एक मार्ग मिल जायगा । आज हिंसा कर-करके थकी दुनिया उसे छोड़ने को तैयार हो जाय, ऐसी परिस्थिति है । इसलिए हमें अहिंसा का चमत्कार सामाजिक और आर्थिक क्षेत्र में करके बताना है । सामाजिक सवाल अहिंसा से हल हो सकते हैं, ऐसी प्रतीति दुनिया को करानी है । गांधीजी के नेतृत्व में अहिंसा के मार्ग से स्वराज्य प्राप्त किया है, उसके वाद अब हमें यह काम करना है ।



१०. निःशस्त्र प्रतीकार

मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन में धर्म-संकट के मौके आते हैं, जब चित्त में उठ रहे अनेक परस्पर विरोधी मालूम होनेवाले विचारों में से उसे किसी निर्णय पर आना पड़ता है। ऐसे प्रसंग राष्ट्र के जीवन में भी आते हैं। उस समय अनेक मनीषियों के निर्णयों में न केवल फर्क, बल्कि विरोध भी पड़ता है।

दूसरे विश्व-युद्ध के समय की चार भूमिकाएँ

दूसरे विश्व-युद्ध के समय हमने देखा कि हमारे व्यावहारिक और आध्यात्मिक नेताओं के भिन्न-भिन्न मत थे। हिन्दुस्तान के बड़े-वड़े चार पुरुषों की चार तरह की भूमिकाएँ थीं। एक भूमिका थी सुभाष की। उन्होंने कह दिया कि भारत के लिए आजादी प्राप्त करने का यह ठीक मौका है, इसलिए अंग्रेजों के विरुद्ध बलवा करना चाहिए और उनके विरोधियों का सहयोग हमें लेना चाहिए।

दूसरी भूमिका थी पंडित नेहरू, सरदार पटेल आदि की। उनका मत यह था कि अंग्रेज यदि भारत को स्वराज्य देते हों, तो हम जितना बन सकेगा, सब प्रकार का उन्हें सहयोग देंगे।

तीसरी भूमिका थी गांधीजी की। उन्होंने कहा कि हम तो सरकार के साथ असहयोग करेंगे, लेकिन यदि वह भारत को स्वराज्य देती हो, तो हम उसका नैतिक समर्थन करेंगे, दूसरी कोई मदद नहीं करेंगे। हमारा मॉरल सपोर्ट (नैतिक समर्थन) मिलेगा, लेकिन शस्त्र लेकर नहीं।

चौथी भूमिका थी श्री अरविन्द की। उन्होंने कहा कि इस लड़ाई में दोनों की तुलना में दैवी शक्तियाँ अंग्रेज और फ्रेंच पक्ष

की तरफ अधिक परिमाण में हैं, यह स्पष्ट है। अतः हमारी सहानुभूति उनकी तरफ होनी चाहिए और विना किसी शर्त के उनकी मदद करनी चाहिए। यह कहकर उन्होंने सहानुभूति के प्रतीकस्वरूप पांडिचेरी-आश्रम से अमुक रकम भी अंग्रेज सरकार को भेजी।

तो, इस तरह श्री अरविन्द का विना शर्त समर्थन, सुभाष का विना शर्त विरोध, गांधीजी का सशर्त नैतिक समर्थन और पंडित नेहरू की सशर्त सैनिक मदद—चार वड़े लोगों के चार विलकुल भिन्न-भिन्न विचार थे। कई ऐसे प्रसंग आते हैं, जव यह अनिवार्यतः हो जाया करता है।

वीर बनो, महावीर बनो

भारत पर चीन का आक्रमण होने पर फिर ऐसा प्रसंग खड़ा हुआ। भिन्न-भिन्न पक्षों के साथ जुड़े हुए गांधीजी के राजनैतिक साथियों तथा रचनात्मक काम करनेवाले साथियों के भिन्न-भिन्न मत थे। मुझे इस संघर्ष का समाचार जिस दिन मिला, उसी दिन मैंने अपना मंतव्य जाहिर कर दिया कि यह चीन का केवल आक्रमण है और अनुचित है, भारत पर यह लड़ाई लादी गयी है। और इस तरह आक्रमण होता रहे, तो कोई भी देश उसे सहन नहीं कर सकता। वल्कि सहन करने पर देश आगे नहीं वढ़ सकता। इसलिए भारत के सामने आज यह एक धर्मयुद्ध आकर खड़ा हो गया है। जनता को लक्ष्य करके मैंने कहा कि 'वीर वनो, महावीर वनो।' जो क्रूर नहीं और कायर भी नहीं, यानी निर्भयता से जो सामना करता है, वह वीर है तथा जो किसी भी प्रकार के शस्त्र के विना मरने के लिए तैयार होता है और दूसरे को मारने की कल्पना तक नहीं करता, वह महावीर है। चीन के आक्रमण के समय मेरी यह भूमिका थी।

अब बहुतों को उस वक्त ऐसा असन्तोष रह गया कि ठीक मौके के समय हम कुछ नहीं कर सके, चीन के आक्रमण का हम अहिंसक प्रतीकार नहीं कर सके। कुछ ने इसमें गांधीजी का नाम भी जोड़ दिया कि गांधीजी होते तो ऐसा करते।

लेकिन इस तरह गांधीजी का नाम लेना ठीक नहीं। इस समय गांधीजी होते तो ऐसा करते, ऐसा कहनेवाले गांधीजी के अंतर्यामी होने चाहिए। हमें समझना चाहिए कि **लोकोत्तराणां चेतांसि को हि विज्ञातुमर्हति**–अर्थात् लोकोत्तर पुरुष के चित्त को कौन जान सकता है? गांधीजी तो नित्य विकासशील थे। उन्हें सत्य का नित्य नया दर्शन होता था। उनमें परिस्थिति को समझकर अधिक-से-अधिक ऊँचे चढ़ जाने की शक्ति थी। इसलिए आज गांधीजी होते तो क्या करते, इसका अनुमान करना ठीक नहीं। आज की परिस्थिति इतनी बदल गयी है कि उसमें गांधीजी ने जितना कहा है, उससे मार्गदर्शन नहीं मिलता। वे तो समय-समय पर बदलते गये हैं।

एक जमाने में गांधीजी ने काठियावाड़ी पोशाक पहनी थी। उस समय वे सिर पर आँटेवाला साफा बाँधते थे। उस समय यह देशी पोशाक समझी जाती थी और यह हलकी मानी जाती थी। साहब लोगों की पोशाक का गौरव था। इसलिए गांधीजी ने उस समय के किसान की पोशाक पहनी। लेकिन एक समय के बाद उनको लगा कि सिर पर यह व्यर्थ का बोझ क्यों होना चाहिए, तो उन्होंने साफा उतारकर गांधी टोपी धारण की और बाद में तो टोपी भी उतार दी। इस तरह लगभग सारी बातों में उनकी भूमिका समय-समय पर बदलती रही है।

युद्ध के बारे में गांधीजी का मानसिक इतिहास

युद्ध के बारे में गांधीजी का मानसिक इतिहास देखिये। सन् १९०७ में जुलू-वार के समय उन्होंने घायल सैनिकों की

सेवा का काम किया। इस युद्ध में उन्होंने इस तरह भाग लिया। सेवा का कार्य करुणा-कार्य है, लेकिन यह करनेवाले भी लड़ाई में सहयोग ही देते हैं।

बाद में भारत आये, तब प्रथम विश्व-युद्ध के समय उन्होंने सैनिक-भरती का काम शुरू किया। उन्होंने कहा कि हमारे लोग इतने निर्वीर्य बन गये हैं कि हममें तलवार चलाने की न तो हिम्मत है, न ताकत। अतः लोग एक बार सेना में भरती हो जायँ तो हिम्मत आती है और हमारी आवाज बुलंद होती है। उस समय उन्होंने भरती के लिए कितनी-कितनी कोशिश की, यह सब मैंने अपनी आँखों देखा है। घूम-घूमकर अंत में तो वे बीमार पड़ गये, पर गुजरात में रंगरूट नहीं ही मिले। आखिर इतने चिढ़ गये कि कह दिया—यहाँ वैष्णव-धर्म और जैन-धर्म दोनों ने मिलकर गुजरात को बर्बाद कर दिया! एक ने भक्ति सिखायी तो दूसरे ने अहिंसा। यह भक्ति और यह अहिंसा बिलकुल निकम्मी थी। यह सन् १९१८ की बात है।

फिर सन् १९४० में दूसरे विश्व-युद्ध के समय बापू ने यह भूमिका ली कि सरकार यदि स्वराज्य दे, तो इस लड़ाई में उसे हम नैतिक समर्थन देंगे, सेना और धन आदि कुछ नहीं देंगे।

बाद में स्वराज्य आया। सन् १९४७ में कश्मीर की समस्या आयी। पंडित नेहरू ने बापू की सलाह पूछी। बापू ने कहा: "तुम्हारे लिए इस समय सेना भेजना अनिवार्य है।"

इस तरह सन् १९०७ से लेकर सन् १९४७ तक का यानी ४० वर्ष का बापू का मानसिक इतिहास है। उसके बाद तो आज हम इतने वर्ष और आगे बढ़ गये हैं। अब इस समय बापू होते तो क्या करते, इसका निर्णय देना और उस प्रकार सोचना ठीक नहीं। ऐसा करने से हम उन पर और अपने पर भी अन्याय करते हैं। इसलिए बापू को उन्हींके स्थान पर रखकर हमें विचार करना चाहिए।

अब तक अन्तर्राष्ट्रीय सत्याग्रह कहीं नहीं हुआ

समझने की बात यह है कि अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में सत्याग्रह का प्रयोग कहीं हुआ है, इसकी जानकारी ज्ञात इतिहास में तो कहीं नहीं मिलती। तो, जो अव तक स्थापित नहीं हुआ, उसे अव हमें स्थापित करना है। आज तक जो युग नहीं था, उस अणु-युग में स्थापित करना है। अर्थात् सत्याग्रह को अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में और इस अणु-युग में स्थापित करना है। ये दोनों वातें हमें सोचनी चाहिए। इस अणु-युग में, अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में सत्याग्रह का स्वरूप कैसा हो, यह हमें सोचना होगा।

इसमें मोर्चे पर जाकर दोनों सेनाओं के बीच खड़े रहने की कल्पना मुझे तो बिलकुल Crude — प्राकृत लगती है। सत्याग्रह आत्मशक्तिप्रधान होगा या शरीरशक्तिप्रधान ? हिमालय में जाना है तो आपको जिनकी आत्मशक्ति में विश्वास है, ऐसे कितने सज्जन वहाँ जा सकेंगे ? जब कि सत्याग्रह का दावा ही यह है कि वह शरीर-शक्ति नहीं, आत्म-शक्ति है।

इसलिए समझना चाहिए कि सत्याग्रह का यह एक अत्यन्त crude प्रयोग साबित होगा। अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में, अणु-युग में सत्याग्रह का प्रयोग करना चाहते हों, तो आपको उसका आध्यात्मिक तरीका खोजना चाहिए और वह न मिला हो तो कहना चाहिए कि अव तक नहीं मिला।

फिर धीरेनभाई ने एक महत्त्व की बात कही है कि हिंसा में सेना लड़ती है और लोग उसके पीछे रहते हैं, जब कि अहिंसा में लोग लड़ते हैं और यदि सेना हो तो वह मदद करती है। उन्होंने अहिंसा की एक प्रक्रिया हमारे सामने रखी है। इस तरह खोज करते रहेंगे, तो दूसरी चीजें भी खयाल में आयेंगी।

नयी परिस्थिति नया चिन्तन चाहती है

लेकिन हम लोगों के मन में एक सवाल यह उठता रहता है कि क्या अहिंसा की कोई ऐसी शक्ति खड़ी नहीं हो सकती,

जो रण-क्षेत्र में सामने से छाती पर गोली झेले और अहिंसक प्रतीकार करे। ऐसा प्रयोग कव हो सकता है और कव नहीं, यह सोचने की वात है। व्यक्तिगत जीवन में कुछ स्थानों पर महात्माओं ने इस तरह प्रहार सहन किये हैं और विजय प्राप्त की है। मरे भी तो मरकर जीवित हैं। छोटे-छोटे समाजों द्वारा असहयोग करने के उदाहरण हैं। ऐसा भी उदाहरण हमारे देश का है, जव कि एक राष्ट्र ने असहयोग की आवाज लगायी। किन्तु इन सव उदाहरणों से भिन्न आज हमारे सम्मुख ऐसी परिस्थिति प्रस्तुत है कि अणु-युग में अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर ऐसा प्रयोग करने का प्रश्न खड़ा है।

हमें समझना चाहिए कि शस्त्रों के उत्तरोत्तर विकास में अनेक वैज्ञानिकों, वीरों और मुत्सद्दियों ने अपने दिमाग और प्राण न्योछावर किये हैं। अहिंसा के विकास में भी अनेक मनीषियों ने प्राचीन काल से चिन्तन किया है और हिंसा को मर्यादित करने के व्यक्तिगत प्रयोग भी किये हैं। हिंसा का उपयोग अमुक जाति तक सीमित रहे, ऐसी समाज-व्यवस्था के गठन के भी प्रयोग हुए हैं। यह सव प्राचीन अनुभव पूंजी-रूप में हमारे पास हैं। लेकिन आज उन सवकी अपेक्षा एक नयी ही परिस्थिति हमारे सामने आयी है। अतः नया ही चिन्तन करना पड़ेगा।

भाव-संशुद्धि पर ध्यान केन्द्रित करें

सत्याग्रह के विषय में मैंने सौम्य, सौम्यतर, सौम्यतमवाली वात की ही है। फिर शब्द-शक्ति कुंठित हुई तो शस्त्र-शक्ति आयेगी। शव्द-शक्ति शुद्ध चिन्तन से निर्माण होती है। उसके लिए स्थूल क्रिया वढ़ाने की जरूरत नहीं है। वह भाव-शुद्धि से निर्माण होती है। गांधीजी ने कहा है कि एक भी पूर्ण सत्याग्रही होगा, तो वह सारी दुनिया को दुःखमुक्त कर

सकेगा। अपनी प्रतिभा के कारण उन्हें ऐसा दर्शन हुआ। इसलिए हमें भाव-संशुद्धि पर ध्यान केन्द्रित करना चाहिए।

इसी सन्दर्भ में मैंने non-violent resistance–अहिंसक प्रतीकार के वदले non-violent assistance in right thinking–सम्यक् चिन्तन में अहिंसक सहयोग की वात कही है। स्थूल प्रक्रिया में पड़ेंगे, तो हमारी जो मुख्य शक्ति है, सूक्ष्म शक्ति है, जिसके प्रयोग से ही ये सारे प्रश्न हल होनेवाले हैं, उनका विकास नहीं होगा। इसलिए अधिक क्रिया-मोह में पड़े विना और चित्त को कर्मभार से मुक्त वनाकर हमें ऐसे मामलों में चिन्तन करना चाहिए, और अहिंसा के विकास की दृष्टि से संशोधन करते रहना चाहिए। ऐसा करते रह-कर गांधीजी से प्राप्त परंपरा को हमें आगे वढ़ाना है। ●

११. दरिद्रनारायण की उपासना

भागवत में एक कथा है। शुकदेवजी जब विरक्त होकर घर त्यागकर निकल पड़े, तो उनके परम विरक्त, ज्ञान-शिरोमणि, विद्यानिधि पिता व्यासजी को भी सम्मोह हुआ और वे पुत्र के पीछे दौड़े और कहने लगे : "पुत्र, कहाँ जा रहे हो, जरा ठहरो तो !" लेकिन शुकदेवजी रुके नहीं, चलते ही गये। जब शुकदेवजी ने पिता को उत्तर नहीं दिया तो अविनय न हो, इसलिए उनकी तरफ से वृक्षों ने उत्तर दिया। शुकदेवजी के साथ तन्मय हो जानेवाले वृक्षों ने जवाब दिया। शुकदेव इतने सर्वभूत-हृदय हो गये थे कि उनकी ओर से बोलने का काम, जवाब देने का काम वृक्ष भी करते थे। शुकदेव का यह एक अद्भुत उदाहरण है।

तो, जैसे सम्पूर्ण भूतसृष्टि ने अनुभव किया कि शुकदव हमारे हृदय में हैं, वैसे ही हमारे जमाने में सारे भारत के लोगों ने अनुभव किया कि गांधीजी हमारे घर के मनुष्य हैं, हमारे हितकर्ता हैं। निःसंशय उन्होंने भारत की जनता के हृदय में प्रवेश किया था। उनकी मृत्यु के समय भारत के लोगों ने ऐसा अनुभव किया कि हमारे परिवार का एक आदमी चला गया। ऐसी एकात्मता गांधीजी ने हिन्दुस्तान के लोगों के साथ साधी थी।

मेरी तपस्या का हिमालय वहीं है, जहाँ...

कई बार गांधीजी के अमुक-अमुक विचार कई लोगों को जँचते नहीं थे। तब कोई-कोई तो उनसे कहता कि अब आप कृपा करके हिमालय या काशी चले जायँ तो ठीक। तब बापू हँसकर कहते : "यदि आप लोग हिमालय जायँगे, तो मैं भी आपके पीछे-पीछे हिमालय जाऊँगा। यदि आप यहीं रहेंगे, तो

आपका यह सेवक भी यहीं रहनेवाला है। जहाँ स्वामी, वहाँ सेवक।" भारत की जनता के साथ उनमें ऐसी आत्मीयता थी।

फिर वे यह भी कहते थे कि "मेरी तपस्या का हिमालय वहीं है, जहाँ अभी दरिद्रता पड़ी है। मुझे उसे मिटाना है, शोषण दूर करना है, दुःखनिवारण करना है। देश में एक भी आदमी जब तक जीवन की आवश्यकताओं से वंचित होगा, तब तक मुझे शांति नहीं मिलेगी और मैं पाँव सिकोड़कर नहीं बैठूँगा।"

इसीलिए हमने देखा कि जब स्वराज्य आया, तब भी बापू तो नोआखाली में ही घूम रहे थे। उन्होंने चालीस वर्ष तक स्वराज्य के लिए सतत काम किया, उनके चौबीसों घंटे स्वराज्य-चिन्तन में बीतते थे। आखिर यह स्वराज्य आया और दिल्ली तथा बड़े-बड़े शहरों में रोशनियाँ हुईं, उत्सव मनाये गये। उस वक्त भी गांधीजी नोआखाली में पदयात्रा कर रहे थे और दुःखितों के आँसू पोंछने के काम में ही रत थे।

इस तरह गांधीजी आम जनता के साथ, सामान्य जनों के साथ एकरूप होने का ही सतत प्रयत्न करते रहे। हमारे पास जो कुछ है, वह सब आम जनता की सेवा में ही अर्पण होना चाहिए। गांधीजी ने हमें यह बात समझायी कि प्रत्येक मनुष्य को प्रत्येक काम में इस बात का खयाल रखना चाहिए कि हम जो कुछ कर रहे हैं, उससे गरीबों को क्या मदद मिलती है? इस तरह एक-एक आदमी को सोचना चाहिए। गांधीजी ने यह दृष्टि हमारे सामने रखी।

उनका यह रवैया पहले से था। वे गोलमेज-परिषद् में गये थे, तब भी उन्होंने वहाँ कहा कि "मैं अत्यन्त नम्रतापूर्वक स्वराज्य की माँग करता हूँ।" उन्होंने यह एक विचित्र लगने जैसी ही बात कही। जब कि देश में 'स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है और वह हम लेकर ही रहेंगे,' ऐसी भाषा बोली जाती थी, तब बापू ने वहाँ कहा कि "मैं नम्रतापूर्वक स्वराज्य की

माँग करता हूँ, क्योंकि उसके बिना हिन्दुस्तान के गरीबों का उद्धार होनेवाला नहीं; ऐसा मुझे विश्वास हो गया है।" हम स्वराज्य क्यों चाहते हैं ? स्वतंत्र इसलिए नहीं होना चाहते कि हमें मूँछों पर ताव देकर अकड़ दिखानी है। किन्तु इसलिए कि उसके बिना गरीबों की सेवा असंभव है। यह बात उन्होंने गोलमेज-परिषद् में कही थी। स्वराज्य उनके लिए एक साधन ही था। अन्त में तो गरीबों का भला करने की बात ही मुख्य थी।

'दुर्योधन को मेवा त्यागो...'

ऐसा एक परम सेवक पहले भी भारत में हो गया है। आज सब श्रीकृष्ण का चरित्र गाते हैं और उसके नाम से आनन्द से नाच उठते हैं। उसका 'गोपाल' नाम सुपरिचित है। लोगों को लगता है कि गोपाल हमारा है। हमेशा हमारा काम करनेवाला, वृद्धों की सेवा करनेवाला, हमारी गायों की खाज मिटानेवाला, हमारी बहनों की सेवा करनेवाला, चाहे जैसी जोखिम में अपने को झोंकनेवाला, कहीं भी राज्यसत्ता न लेनेवाला, ऐसा यह गोपाल हमारा है, ऐसा लोगों को लगता था। वह परम ब्रह्मज्ञानी था, फिर भी सामान्य मनुष्य की तरह ही रहता था। जब श्रीकृष्ण पाण्डवों के प्रतिनिधि के रूप में गये, तो दुर्योधन ने उनको अपने महल में ठहराया और मेवा-मिठाई खाने को दी। लेकिन उसे उन्होंने स्वीकार नहीं किया और विदुर की कुटी और साग ही पसन्द किया। इसीमें उन्हें आनन्द आया।

ठीक ऐसा ही गांधीजी ने गोलमेज-परिषद् के समय लन्दन में किया। वे लन्दन में अत्यन्त गरीब लोगों की बस्ती में ठहरे। वहाँ से गोलमेज-परिषद् में जाने में उन्हें रोज घंटा-सवा घंटा लगता था। फिर भी वे गरीबों के बीच जाकर ही रहे। इस तरह वे सामान्य जनता के साथ एकरूप हो गये थे।

उपासना के लिए भी उन्होंने 'राम-नाम' ही पसन्द किया। राजाजी ने एक बार ठीक ही कहा था कि गांधी को भक्ति में भी कोई विशेष श्रेणी पसन्द नहीं है। जो नाम सामान्य-से-सामान्य अनपढ़ स्त्री-पुरुष ले सकते हैं, वही राम-नाम बापू ने पसन्द किया। मात्र विशिष्ट जनों तक सीमित भक्ति भी उन्हें पसन्द नहीं थी। अंतिम समय भी कौन-सा नाम जपते हुए गये? 'हे राम!' कहकर गये। उन्होंने अंतिम साँस से राम ही उच्चारा, जो राम सबका है। इसके बदले वे यदि 'ओम्' कहकर जाते तो वे दरिद्र-नारायण के साथ एकरूप साबित न होते। हाँ, नारायण के साथ एकरूप हो गये हैं, यह सिद्ध हो जाता। लेकिन अंत में भी उनके मुख से राम-नाम ही निकला। यह उनकी दरिद्रनारायण की उपासना के अनुरूप हुआ।

विवेकानन्द का शब्द

'दरिद्रनारायण' शब्द विवेकानन्द का दिया हुआ है। अद्वैत-विचार को दरिद्रनारायण की सेवा के साथ जोड़ने की प्रक्रिया मूल में विवेकानन्द की है। कहा जा सकता है कि आधुनिक युग में सेवायोग की शुरुआत विवेकानन्द ने की। शंकर का अद्वैत और ईसा का प्रेममय सेवाभाव, दोनों का संयोग विवेकानन्द में देखने को मिलता है। उन्होंने दरिद्रनारायण की उपासना करने की बात कही। यह 'दरिद्रनारायण' शब्द लोकमान्य तिलक को भी बहुत प्रिय था। देशबन्धु चित्तरंजन दास ने भी उसे प्रचलित किया। लेकिन उस शब्द को घर-घर पहुँचाने का काम और तदनुसार सारा रचनात्मक कार्यक्रम खड़ा करने का काम गांधीजी ने किया। उन्होंने स्वराज्य-प्राप्ति के काम को भी मानव-सेवा का रूप दिया।

दरिद्रनारायण शब्द से सारे आस्तिकों और सारे नास्तिकों के बीच का भेद खतम हो जाता है और दोनों एक प्लेटफार्म पर आ जाते हैं। जो अपने सामने की प्रत्यक्ष सेवा को छोड़कर

हवाई बातें नहीं करना चाहता, वह 'नास्तिक' कहलाता है। ऐसे नास्तिकों में भी सज्जन हो गये हैं। सच्चा आस्तिक वह है, जो मानव-हृदय पर विश्वास रखता है और मानता है कि मानव-हृदय में एक ज्योति है और उसीके आधार पर हम सब प्रकार का अंधकार दूर कर सकते हैं।

इस तरह एक जन-सेवा का विचार है, तो दूसरा है हृदय-परिवर्तन का विचार, भक्ति-मार्ग। वह कहता है कि हम मनुष्य की सेवा करेंगे, लेकिन अपनी सेवा से उसका हृदय-परिवर्तन करेंगे। इसके लिए हमें नारायण का स्पर्श करना पड़ेगा। नारायण का यह स्पर्श जिस सेवा को होगा, उसमें हृदय-परिवर्तन की ताकत आयेगी। दरिद्रनारायण शब्द से ये दोनों बातें जुड़ जाती हैं।

सेवा-वृत्ति ही निर्माण-कार्य का स्वरूप

इस तरह देखा जाय तो विवेकानन्द ने एक बहुत बड़ी बात की। इसके कारण अद्वैत तत्त्वज्ञान, तत्साधक विभिन्न उपासनाएँ और तत्प्रकाशक भूतसेवा, इस प्रकार जीवन में एकरस विचार भारत को मिल गया। महात्मा गांधी ने मानव-सेवा के इस विचार को अधिक व्यापक बनाकर उसके साथ उत्पादक शरीर-श्रम की आवश्यकता भी स्पष्ट कर दी। उन्होंने सेवा-वृत्ति को निर्माण-कार्य का स्वरूप देकर उसमें वृद्धि की। सामने भूखा आदमी खड़ा हो तो उसे खिलाना, यह हुई सेवा। इसके बदले चरखा देकर या जमीन देकर उससे उत्पादन करके खाना सिखाना, यह हुआ निर्माण। यही सच्ची सेवा मानी जायगी।

सेवा को निर्माण-कार्य का रूप मिलने पर लाभ भी होता है और नुकसान भी, यह बात बारीकी से समझ लेना जरूरी है। लाभ यह कि भूत-दया और सेवाभाव के साथ-साथ निर्माण-कार्य का विचार जुड़ जाता है, इससे सेवा अधिक

कार्यकारिणी बनती है। नुकसान यह होता है कि निर्माण-कार्य करते-करते सेवाभाव तथा अद्वैतभाव एक ओर रह जाता है और चरखे जैसे स्थूलसाधन को ही हम सर्वस्व मानने लग जाते हैं। सूक्ष्मतत्त्व भुलाकर हम स्थूलकर्म में ही उलझ जाते हैं। इसलिए मूल भावना भुलानी नहीं चाहिए।

हमें 'दरिद्र' निकालकर 'नारायण' रखना है

एक दूसरी बात भी ध्यान में रखनी है। गांधीजी ने अपने जीवन में 'दरिद्रनारायण' की उपासना का एक उत्तम उदाहरण पेश किया, लेकिन अब हमें आगे विचार करना ह। हम सब चाहते हैं कि अब 'दरिद्र' शब्द न रहे, केवल 'नारायण' रहे। दुनिया में कोई दरिद्र रहे और मैं उससे अलग रहकर उसकी सेवा करूँ, यह मुझे अच्छा नहीं लगता। मुझे सेवा का मौका देने के लिए भगवान् हमेशा दरिद्र के रूप में आयें, यह मैं पसन्द नहीं करता। मैं सीधे नारायण की सेवा करना चाहता हूँ। इसलिए अब कोई दरिद्र और कोई अमीर न रहे, सभी **अमृतस्य पुत्राः** बन जायँ। अमृत के पुत्रों में असमानता नहीं हो सकती। फिर सब कन्धे से कन्धा मिलाकर भगवान् और सृष्टि की सेवा करें।

ईसा ने भी एक जगह कहा है: The poor you have always with you–अर्थात् गरीब तो हमेशा तुम्हारे साथ ही है। ईसा के इस वचन का कम्युनिस्ट ऐसा अर्थ करते हैं कि दरिद्र हमेशा साथ रहनेवाले हैं और उनकी सेवा का अवसर हमें हमेशा मिलनेवाला है, जबकि ईसा ने इस सन्दर्भ में नहीं कहा। कम्युनिस्ट उलटा अर्थ लगाते हैं। परंतु समझने की बात यह है कि हमें दरिद्रता कायम नहीं रखनी है। वह कायम रहे तब तो यह बड़ा संकट माना जायगा। हमें दरिद्र को क्या हमेशा दरिद्र रखना है कि उसकी सेवा का हमें लाभ मिलता

रहे ? नहीं, हमें तो उसकी दरिद्रता मिटानी है। बाकी, हमेशा दरिद्र की सेवा करने की भावना रखना तो दरिद्रता है। गांधीजी भी दरिद्रता को जड़मूल से नष्ट करना चाहते थे। इसीके लिए उन्होंने अपना सारा जीवन अर्पित कर दिया।

●

१२. अहिंसक समाज-रचना का दर्शन

एक बार मेरे पास गांधीजी के चित्रों का बड़ा मोटा अलबम आया। उसमें बड़े-बड़े सुन्दर चित्र थे। लेकिन जब मैं सूत की गुंडी देखता हूँ तो उसमें गांधीजी का अनुपम रूप दिखाई देता है। उनकी इतनी अद्‌भुत छवि मुझे और कहीं नहीं दिखाई देती। गांधीजी का जो जीवन-चित्र सूत की गुंडी में जितना स्पष्ट दिखता है, उतना किसी भी शारीरिक स्थूल चित्र में नहीं।

सूतांजलि : बापू का सबसे बड़ा स्मारक

इसीलिए मैंने बापू की स्मृति में सूतांजलि अर्पण करने का कार्यक्रम देश के सामने रखा। प्रतिवर्ष १२ फरवरी को हम अपने हाथ की कती अच्छे सूत की एक गुंडी समर्पण करते हैं। यह कार्यक्रम बापू के प्रति श्रद्धा के सबसे बड़े प्रतीक के समान है। बापू का यह सबसे बड़ा स्मारक होगा।

यों तो यह एकदम छोटी चीज है, लेकिन यह जितनी छोटी है, उतनी शक्तिशाली भी। इसमें शरीर-परिश्रम, अहिंसा, प्रेम और त्याग की दीक्षा मिलती है। यह हमारी श्रम-प्रतिष्ठा की भावना की प्रतीक है। उसमें हम भ्रातृभाव को मान्यता देते हैं, उसका दर्शन होता है। यह सर्वोदय-विचार के लिए वोट है। सारे राष्ट्र के लिए यह एक सुन्दर उपासना है।

एक राष्ट्रीय उपासना

बापू ने कहा था कि सारे देश के सामने एक ऐसी राष्ट्रीय उपासना होनी चाहिए, जिसे देश का एक-एक बालक भी कर सके। धार्मिक और पांथिक उपासनाएँ तो हैं, लेकिन उनसे भेद पैदा होता है। देश में एक अभेद उत्पन्न करनेवाली

उपासना चाहिए। सबको लगे कि मैं देश के लिए कुछ-न-कुछ कर रहा हूँ।

यही विचार लेकर चरखे का विकास हुआ। कातना हलके-से-हलका और सरल श्रम है। किशोरलालभाई जैसे मनुष्य भी चरखे के मार्फत देश के लिए कुछ-न-कुछ उत्पादन करते रहे, जिनको सबेरे लगता था कि शाम तक मर जाऊँगा और शाम को लगता था कि सवेरा होगा या नहीं। ऐसी हालत में भी उनके बीस-पचीस वर्ष बीत गये। मेरा खयाल है कि अपने कपड़ों जितना सूत तो वे कात ही लेते थे। चरखा कमजोर-से-कमजोर नागरिक को भी उत्पादक बना सकता है, यह उसकी विशेषता है। ऐसा एक औजार बापू ने हमें नये रूप में और नये विचार के साथ दिया।

काचे रे तांतणे…

बापू को शुरुआत में चरखा नहीं, करघा सूझा था। सन् १९१६ की बात है। मैं आश्रम पहुँचा तो उस वक्त कोचरब में हम सब मिलकर सूत की पट्टियाँ और कपड़ा बुनते थे। मैंने पूछ लिया कि इस काम द्वारा मुझे स्वावलम्बन साधना हो तो कितना बुनना पड़ेगा? तो कहा गया पचीस गज। इसलिए मैं पचीस गज बुनने का प्रयत्न करता रहा। एक दिन तो निश्चय करके बैठा। मुझे याद है कि रात को नौ-दस बजे तक बुनता रहा और पचीस गज पट्टी पूरी करके ही उठा।

लेकिन यह सब सूत मिल का था। यह ज्ञान की खोज थी, यह कर्मयोग का आरम्भ नहीं था। फिर थोड़े दिनों बाद ध्यान में आया कि सूत कातना अपने हाथ में लेना चाहिए। फिर चरखा मिला। लेकिन 'पूनी'? पहले लम्बी पूनी मिल से लाते थे। फिर विचार आया कि पूनी भी हाथ से बनानी चाहिए। इस तरह पूनी भी हाथ से बनाने लगे। इस तरह खादी शुरू हुई। इस खादी द्वारा बापू को तो दिल के तार जोड़ने थे।

बापू मीराबाई का एक भजन अनेक बार स्मरण करते थे : **'काचे रे तांतणे मने हरिए बांधी, जेम ताणे तेम रहीए रे।'**

'एक कच्चा तार है, उससे मुझे बाँधा है और यह इतना मजबूत है कि उसके बल पर भगवान् मुझे खींचते हैं। मैं उससे खींची जाती हूँ।'—इस तरह मीराबाई कह रही है। इस कच्चे तार की प्रेम-रज्जु से सारे विश्व को खींच सकते हैं और हम भी इसके पास खिंच जाते हैं, यह भाव चरखे के पीछे निहित है।

बापू ने सारी जिन्दगी रोज चरखा काता। मरण के दिन भी चरखा कातकर गये। उनसे एक बार अदालत में पूछा गया कि आपका धंधा क्या है, तो उन्होंने कह दिया : 'कातना और बुनना।' यह तो उनकी विलक्षण पद्धति थी। इसी तरह हिन्दुस्तान की आम जनता के साथ वे एकरूप हो सके।

इस प्रकार चरखे के पीछे उपासना की और सर्वजन के साथ एकात्मता साधने की एक भावना है। लेकिन साथ ही उसके पीछे एक नयी अर्थ-व्यवस्था की दृष्टि भी रही है। जिसे सबसे अधिक मदद की जरूरत हो, उसे सबसे पहले मदद किस तरह पहुँचायी जाय, इसका उपाय गांधीजी खोजते थे। उसीमें से यह चरखा निकला। यह उनकी अद्भुत प्रतिभा थी। उन्होंने वर्षों पहले देख लिया था कि हिन्दुस्तान में ग्रामोद्योगों की जरूरत है। यह दर्शन दूरदर्शी बापू को हो गया था। वे क्रांतद्रष्टा थे : **कविः क्रांतदर्शी**। जिसे उस पार का दर्शन होता है, वह कवि, इस अर्थ में गांधीजी कवि थे।

उद्धार में उधारी नहीं चलती

तुकाराम ने कहा है कि **उद्धाराशी काय उधाराचें काम**— 'उद्धार में उधारी किसलिए ?' एक आदमी डूब रहा हो और उससे आप कहें कि कल तुम्हें बचा लेंगे, तो क्या यह ठीक होगा ? वह डूब तो अभी रहा है। यदि उसका उद्धार करना हो तो तुरत करें। इसमें उधारी नहीं चलेगी।

लेकिन सरकारी योजनाओं का तो उधार-खाता है। उत्पादन बढ़ेगा तो नीचे के स्तर तक भी उसका कुछ-न-कुछ अंश पहुँच ही जायगा, ऐसी कल्पनाओं पर योजनाओं का आधार है। इसे मैं कहता हूँ : Theory of Percolation—ऊपर से बहाया हुआ पानी धीरे-धीरे जमते-जमते नीचे के स्तर तक पहुँचेगा—ऐसा सिद्धान्त। अब इस 'परकोलेशन' में अगर कहीं मिट्टी के नीचे पत्थर आ गया तो क्या पानी नीचे तक जायगा? यह सिद्धान्त निरर्थक साबित हो गया है। इतनी योजनाएँ चलीं। उत्पादन बढ़ा। जीवन-मान भी कुछ ऊँचा उठा। लेकिन नीचे के स्तर के लोगों को इन योजनाओं का कोई खास लाभ नहीं मिला। इसीलिए तो पंडित नेहरू भी अंतिम दिनों में कहने लगे थे कि 'जिस ढंग से गांधीजी सोचते थे, उसी ढंग से सोचना पड़ेगा।'

देश का जीवन-स्तर कुल मिलाकर बढ़े, इतने से काम नहीं चलता। खास दरिद्रों का ध्यान रखकर योजना बनाते हैं, तभी उन तक मदद पहुँचती है। इसलिए बापू कहते थे कि जिन्हें जरूरत है, उन्हें आज ही कुछ-न-कुछ काम मिलना चाहिए। इसके लिए जो भी साधन मिलें, औजार मिलें, वे उन्हें देने पड़ेंगे। इसीलिए बापू ने कहा : "चरखा चलाओ, चरखा न हो तो तकली चलाओ।"

आज के आज कुछ-न-कुछ काम दो

इसमें वे आगे की प्रगति को भी रोकते नहीं थे। कारण, एक ओर उन्होंने तकली चलायी, तो दूसरी ओर कताई का नया मंत्र शोधने के लिए लाख रुपये का पुरस्कार भी घोषित किया। इसलिए इसमें प्रगति को रोकने की कोई बात नहीं। वास्तविकता स्वीकार कर आगे बढ़ने की बात है। आज जो औजार उपलब्ध हैं, उन्हें लेकर ही आज का काम करना और आगे बढ़ना चाहिए।

इस तरह चरखे के पीछे बापू का एक समग्र दर्शन था। उसमें केवल थोड़ी राहत पहुँचाने या सेवा करने की ही दृष्टि नहीं थी, वल्कि अपने देश की परिस्थिति के अनुरूप नयी अहिंसक अर्थ-व्यवस्था के गठन की भी दृष्टि थी। गांधीजी केवल ऊँचे विचार के नहीं, वल्कि जमीन पर रहकर विचार करनेवाले भी थे। हिन्दुस्तान के ग्राम्यजनों का, उनकी परिस्थिति और उनके स्वभाव का उन्हें सूक्ष्म अवलोकन था। इसी वास्ते उन्होंने कहा था कि केवल Mass production—अधिक उत्पादन से काम नहीं चलेगा। लेकिन Production by masses—अधिक हाथों द्वारा उत्पादन करना पड़ेगा। करोड़ों हाथों और उन्हें उपलब्ध हो सकनेवाले साधनों से काम करके, विकेंद्रित पद्धति से, गाँव-गाँव में उत्पादन वढ़ाना पड़ेगा। तभी हिन्दुस्तान में गाँव खड़े होंगे—यह गांधीजी का विचार था।

मैं सारे हिन्दुस्तान में घूमा हूँ। पदयात्रा करता था, इस-लिए गाँव-गाँव पहुँचने का मुझे मौका मिला। इस दरमियान गांधीजी के इस विचार का तथ्य मैंने अपनी आँखों देखा। मुझे अनेक विशेषज्ञों के साथ बातचीत करने का मौका मिला। गाँवों के उत्थान के लिए ग्रामोद्योगों के सिवा दूसरी कोई योजना किसीसे मुझे सुनने को नहीं मिली। केवल इतना ही सुनने को मिला कि ग्रामोद्योगों के साधन सुधरने चाहिए।

बिजली ही क्यों, अणु-शक्ति का भी स्वागत है

इसमें दो मत नहीं हो सकते। साधनों को सुधारने की वहुत कोशिश की गयी और अभी भी की जायगी। विजली या अणुशक्ति की दृष्टि से हम अपने औजार सुधारते रहेंगे। इससे अहिंसा टूट जायगी, इसका मुझे डर नहीं। मैं निर्भय हूँ। मेरा मन डाँवाडोल नहीं है। बिजली या पावर से चरखा चलाने में मुझे कोई आपत्ति नहीं। मैंने तो पवनार के ब्रह्मविद्या-मन्दिर की वहनों को अपने वस्त्र-स्वावलम्बन के लिए अम्बर-

चरखे पर बिजली लगाने की छूट दे दी है। पावर से चरखा चलाने में मेरी शर्त केवल इतनी ही है कि उस खादी का उपयोग क्षेत्र-स्वावलम्बन तक ही किया जाय, वाहर बेचने के लिए भेजकर शोषण न किया जाय। इस वास्ते पावर का उपयोग करने में कोई बाधा नहीं। अव तो अणु-शक्ति आ रही ह। उसके आधार पर तो जीवन को अधिक विकेन्द्रित, अधिक सुखी और व्यापक अर्थ में स्वावलम्वी बनाया जा सकता है। विजली की अपेक्षा अणु-शक्ति में विकेन्द्रीकरण की शक्यता अधिक समायी हुई है, यह मेरा निश्चित मत है।

यन्त्र का 'आत्म-दर्शन' का समय

खैर, मैं कह रहा था कि साधनों को जितना वन सके, सुधारना चाहिए, इसमें दो मत नहीं हो सकते। लेकिन यंत्रों के बारे में मैं एक दूसरे ढंग से सोचता हूँ। यंत्र को अपनी कीमत के बराबर कमाई करने में जितना समय लगता है, उसे मैं उसका 'आत्मदर्शन का समय' कहता हूँ। तकली आठ घंटे में आत्मदर्शन करती है। अम्बर को कदाचित् एक वर्ष लगेगा। पूँजी रोकने की दृष्टि से आत्मदर्शन यंत्र की क्षमता की एक कसौटी है। इसीलिए देशकाल की परिस्थिति के अनुसार कौन-सा साधन उपयोगी होगा, इसका विवेकपूर्वक विचार करना पड़ेगा।

गांधीजी की चरखे की बात के पीछे ऐसा एक विचार रहा है। देश के सबसे नीचे के स्तर के लोगों की तरफ सबसे पहले ध्यान देना चाहिए। यह सर्वोदय की दृष्टि है। अब मैं कोई शाश्वत काल की बात नहीं करता, लेकिन कम-से-कम तीस-चालीस बरस तक तो सबसे नीचे के स्तर के लोगों को ऊपर उठाने की इसके सिवा दूसरी कोई तरकीब नहीं दिखायी देती। इसलिए तीस-चालीस बरस के बीच के समय के कार्यक्रम के रूप में खादीकाम को लेना पड़ेगा। आगे चलकर कदाचित् कोई

दूसरी तरकीब निकल जाय, लेकिन अभी तो इसके सिवा कोई दूसरी तरकीब नहीं दीखती।

खादी : ग्राम-स्वराज्य का गणवेश

गांधीजी ने खादी के साथ दूसरे ग्रामोद्योगों की भी बात कही थी। केवल खेती के भरोसे गाँव न टिक सकेंगे, यह गांधीजी का मौलिक विचार है। अपनी मूलभूत आवश्यकताओं की चीजें ग्रामों को खुद ही तैयार कर लेनी चाहिए। कच्चे माल का जितना सम्भव हो, पक्का माल गाँव में ही बनना चाहिए। ऐसा न हो कि तिल बेचकर तेल खरीदा जाय, कपास बेचकर कपड़ा खरीदा जाय, गन्ना बेचकर गुड़ खरीदा जाय। जीवनोपयोगी बुनियादी चीजें गाँव में ही उत्पन्न होनी चाहिए। प्रत्येक गाँव को यह निर्णय करने की सत्ता होनी चाहिए कि कौन-सा माल बाहर से लाया जाय और कौन-सा बाहर भेजा जाय। ऐसा होगा, तभी गाँवों में स्वराज्य आयेगा।

इसलिए खादी-ग्रामोद्योग के बारे में अलग से विचार करने के बदले ग्राम-अर्थतंत्र के रूप में उस पर विचार होना चाहिए। खेती की मदद में जितने उद्योग दिये जा सकें, उतने दिये जाने चाहिए। उसमें खादी भी एक उद्योग होगा। खादी के विषय में मैं एक बात स्पष्ट कर देना चाहता हूँ। खादी के अलावा दूसरे जितने उद्योग बेकारी दूर करनेवाले हों, उन्हें पहले आजमा लो। लेकिन मैं मानता हूँ कि तमाम उद्योग-धंधों को देने के बाद भी खादी-ग्रामोद्योग की आवश्यकता बनी ही रहेगी। गाँव अपने पैरों पर खड़ा हो, यह हमारी दृष्टि ह। खेती के साथ-साथ खादी-ग्रामोद्योग रहेगा, तो गाँव अपने पैरों पर खड़े हो सकेंगे।

स्वराज्य-प्राप्ति के पूर्व खादी स्वराज्य की आकांक्षा की प्रतीकरूप थी। वह आजादी का 'गणवेश' मानी जाती थी। स्वराज्य-प्राप्ति में खादी की यह भूमिका चरितार्थ हुई। उसके बाद खादी की अनेक दिशाओं में प्रगति हुई। बेकारों को काम

देने में उसने अपना खास योग दिया। उसका एक तंत्र बना और शास्त्र भी विकसित हुआ। किन्तु असल में वह 'ग्राम-स्वराज्य के गणवेश' रूप म बननी चाहिए। बापू हमेशा कहा करते थे कि हमें गाँव-गाँव जाना है, ग्राम-संस्कृति को पुनः स्थापित करना है। खयाल यह था कि खादी द्वारा ग्राम-शक्ति खड़ी करेंगे।

बापू की यह आशा अब तक पूरी नहीं हुई। खादी-ग्रामोद्योग आदि से आर्थिक क्षेत्र में लोग स्वयं ही शोषण से मुक्त हों, ऐसा उन्हें करना था। लेकिन अंतिम दिनों में बापू को बहुत दुःख था कि खादी जैसी चीज किस तरह दब गयी है। अंतिम जेल-यात्रा से बाहर आने पर वे इस विषय में चिन्तन कर रहे थे और 'खादी का नव-संस्करण करना पड़ेगा' ऐसा कहने लगे थे। बापू ने बिलकुल उपनिषद् के मंत्र की तरह दो वाक्य कहे थे: 'कातें वे पहनें और पहनें वे कातें।' जिस तरह गाँव-गाँव में अनाज पैदा होता है, उसी तरह गाँव-गाँव में कपड़ा तैयार होना चाहिए। ऐसा हो, तो वह हिन्दुस्तान के लिए बहुत बड़े संरक्षण का काम होगा।

चांडिल में पंडितजी (नेहरूजी) मिलने आये थे। तब मैंने उनसे कहा था कि जैसे हरएक को लिखना-पढ़ना सिखाया जाता है, वैसे ही प्रत्येक को सूत कातना सिखाना सरकार का कर्तव्य मानना चाहिए। बाद में मैंने उन्हें मिसाल दी कि इंग्लैंड के शिक्षण म तैरना और नौका चलाना अनिवार्य है। क्यों? क्योंकि उनका देश समुद्र से घिरा हुआ है। इसलिए वहाँ के लोग मानते हैं कि तैरना जानने में सुरक्षा ह। फिर उसमें व्यायाम होता है और आनन्द भी आता है। लेकिन मूलतः उन लोगों ने उसे संरक्षण का साधन माना है। इसी तरह मैंने पहले से यह माना है कि हमारे यहाँ गाँव-गाँव में खादी तैयार करना 'डिफेन्स मेजर' है।

खादी का नवसंस्करण करना पड़ेगा

इस दृष्टि से अब तक जो काम हुआ है, वह गौण कार्य ही हुआ है । ४०-५० वर्ष तक सतत काम हुआ, महात्मा गांधी जैसे पुरस्कर्ता मिले और राजकीय मदद मिली । फिर भी आज खादी कितनी है ? कहा जाता है कि हिन्दुस्तान म कपड़े की कुल आवश्यकता का एक प्रतिशत कपड़ा खादी पूरा करती ह । अभी बहुत मेहनत करेंगे, तो भी पाँच-दस वरस में इस एक प्रतिशत के बदले पौन या आधा प्रतिशत होगा । क्योंकि जिस तेजी से जन-संख्या बढ़ रही है, उतनी तेजी से खादी नहीं बढ़ेगी, तो प्रतिशत घटता रहेगा ।

इसके लिए हमें आज की काम की पद्धति में फर्क करना पड़ेगा । नहीं तो खादी की क्रांतिकारिता खतम हो जायगी और वह केवल एक चिथड़ा बन जायगी—थोड़ी-सी मजदूरी देने का साधन बन जायगी । जो कमजोर होंगे, वे कोई दूसरा काम न कर सकने के कारण यह काम करेंगे और उन्हें 'डोल' देने के बदले मजदूरी देंगे । इस खादी में कोई क्रांतिकारिता नहीं रहेगी ।

फिर, खादी का काम सरकार की मदद पर लम्बे समय तक चल नहीं सकता । सरकार कब तक मदद करेगी ? बेकारों को काम देने के लिए कदाचित् थोड़ी-बहुत मदद करे । लेकिन मदद एक बात है और रक्षण दूसरी बात । सरकार खादी को मदद दे सकती है, रक्षण नहीं । खादी को रक्षण तो ग्राम-संकल्प द्वारा ही मिल सकता है । ऐसा रक्षण मिलेगा, तभी खादी टिकेगी और सारे देश में फैलेगी । गाँव-गाँव की ग्रामसभा द्वारा खादी-काम का आयोजन करना पड़ेगा । गाँव की आवश्यकता के लिए खादी बनानी पड़ेगी और गाँव की समग्र अर्थ-रचना खादी-ग्रामोद्योगमूलक करनी पड़ेगी । ऐसी ग्रामाभिमुख

और ग्रामनिष्ठ योजना बनेगी, तभी खादी का अपना मंत्र साकार माना जायगा।

यह सब समझना पड़ेगा और समग्र दृष्टि से सोचना पड़ेगा। खादी एक महामंत्र है। खादी का मूलभूत विचार क्या है, इसका चिन्तन-मनन करना पड़ेगा। गांधीजी तो कहते हुए थकते नहीं थे कि चरखा यानी अहिंसा और अहिंसा यानी चरखा। इस बात का मर्म जानना पड़ेगा।

'वार पोटेन्शियल' और 'पीस पोटेन्शियल'

लेकिन अहिंसक समाज-रचना की बुनियाद-स्वरूप खादी का यह दर्शन हमें नहीं होता। मुझे याद है कि स्वराज्य के बाद एक भाषण में सरदार पटेल ने कहा था : "अब खादी नहीं चलेगी। अब हम ऐसी 'इंडस्ट्री बिल्ड-अप' करनी पड़ेगी—ऐसे उद्योग खड़े करने पड़ेंगे, जिनमें 'वार पोटेन्शियल' हो—फौजी कूवत हो, जंगी-गुंजाइश हो। खादी-ग्रामोद्योग बढ़ने से कोई फौजी तैयारी नहीं होगी। इसलिए ऐसे ही उद्योग बढ़ाने चाहिए, जिनसे सेना की तैयारी हो सके।" ये शब्द सरदार पटेल के हैं। ये मैंने कानों-कान सुने हैं।

अब, मैं सोचता हूँ कि दुनिया में 'वार पोटेन्शियल' की जितनी आवश्यकता है, उससे अधिक आवश्यकता 'पीस पोटेन्शियल' की है। हमें ऐसे काम खड़े करने पड़ेंगे, जिनमें शांति की गुंजाइश हो, संभावना हो, क्षमता हो। आज की दुनिया में सर्वोदय की आवाज न्याय की स्थापना की आवाज है। अन्याय और शोषण समाप्त करने की क्षमता उसमें है और जब ये दोनों समाप्त होंगे, तभी स्थायी शांति संभव होगी।

आज की दुनिया के लिए तरणोपाय

दुनिया आज अन्याय, उत्पीड़न और शोषण से त्रस्त है। सत्ता के शिकंजे में उसकी साँस रुँधी जा रही है। युद्ध और

शस्त्रास्त्रों के अभिशाप से वह पीड़ित है। विज्ञान की जो शक्ति उसके लिए वरदानरूप बननी चाहिए थी, वह आज शापरूप बन गयी है, क्योंकि विज्ञान सत्ता, सम्पत्ति और स्वार्थ के हाथों बिक गया है।

सर्वोदय-विचार आज के युग की इस भयावह स्थिति से मुक्त होने का उपाय बता रहा है। गांधीजी ने बहुत पहले ही यह बात समझ ली थी कि विज्ञान और टेक्नालॉजी के विकास के कारण सत्ता और सम्पत्ति के केन्द्रीकरण का रास्ता खुल जायगा और केन्द्रित सत्ता तथा केन्द्रित सम्पत्ति सारी मानव-जाति को अपना गुलाम बना लेगी। इसलिए उन्होंने ग्राम-स्वराज्य का उद्घोष किया था।

उन्होंने कहा था कि "भारत को अपना विकास यदि अहिंसा अर्थात् अशोषण और न्याय की दिशा में करना हो, तो बहुत सारी चीजों का विकेंद्रीकरण करना पड़ेगा। उसके बदले यदि केंद्रीकरण किया गया, तो उसे कायम रखने और उसकी रक्षा करने के लिए हिंसा का आश्रय लेना अनिवार्य हो जायगा। अहिंसक समाज-रचना तो स्वावलम्बी और स्वाश्रयी ग्रामों के आधार पर ही खड़ी की जा सकती है।

इस समय ग्रामदान और सर्वोदय का आन्दोलन ऐसा ही ग्राम-स्वराज्य सिद्ध करने के लिए प्रयत्नशील है। आज की परिस्थिति को बदलने के लिए वह समाज में एक क्रांतिकारी चेतना जगाना चाहता है, जिससे आम जनता जागे और संगठित हो, समाज में न्याय और भाईचारे का वातावरण पैदा हो, केंद्रीकरण की आवश्यकता समाप्त हो जाय और गाँव-गाँव में सत्ता और संपत्ति के जुए से मुक्त होने की शक्ति उत्पन्न हो सके।

मानव-जाति को बापू की अनोखी देन

विकेंद्रीकरण और ग्राम-स्वराज्य का यह विचार मानव-

जाति के लिए बापू की अनोखी देन है। समस्त मानवीय गति-विधि का केंद्रीकरण विज्ञान का एक अभिशाप है। उसका मुकाबला करने के लिए महात्मा गांधी की यह बात ही मानव-जाति के लिए एकमात्र मार्ग है। महात्मा गांधी एक व्यक्ति नहीं, लेकिन अहिंसा-तत्त्व के प्रतीक थे। उनके मार्फत अहिंसक समाज-रचना की सामान्यतः एक अच्छी रूपरेखा मानव-जाति को मिली है। ●

१३. आश्रम-परम्परा

हमारे देश में पुराने जमाने से तीन संस्थाओं का विचार-पूर्वक विकास हुआ है—गृह, मठ और आश्रम। इसमें से गृह-संस्था उद्योगप्रधान थी। विविध प्रकार के उद्योगों की समाज को जरूरत रहती है। गृह (घर) में जीवन के लिए उपयोगी अनेक उद्योग चलते और गृहस्थाश्रम का उसमें विधान था।

ऋग्वेद में एक शब्द आता है : **गृहे गृहे दमे दमे**—घर-घर में साधना चलती है। 'दम' घर का एक पर्याय शब्द था। घर जरा व्यापक शब्द है। उसके अन्दर जो छोटा-सा सुरक्षित स्थान हो, उसे वे दम कहते थे, यानी अंतरगृह। गृह में सबका ग्रहण होता था। बाहर के सभी लोगों का स्वागत आदि जहाँ करते थे, उस सारे बाहर के विभाग को 'गृह' कहते और अन्दर जो अन्तर-विभाग होता था, उसे 'दम' कहते थे यानी जहाँ इन्द्रियों के दमन का अभ्यास होता था, लोगों को अनुशासन की शिक्षा मिलती थी। माता-पिता, कन्या-पुत्र एक साथ रहें, तो उनमें कुछ अनुशासन चाहिए। वह प्रेम के आधार पर ही हो, लेकिन जीवन नियमयुक्त हो। ऐसी साधना जहाँ होती थी, उसे 'दम' कहते थे। अंग्रेजी में 'मैडम' शब्द है और फ्रेंच में जिसे 'मादाम' कहते हैं, वह है घर की गृहिणी। यह शब्द लैटिन में भी आ गया है।

उद्योग-प्रधान, प्रयोग-प्रधान, योग-प्रधान तीन संस्थाएँ

पहली संस्था गृह उद्योग-प्रधान थी। दूसरी संस्था आश्रम प्रयोग-प्रधान थी। यह 'आश्रम' शब्द अनूठा है। जिसमें सब प्रकार के परिश्रमों का सामंजस्य होता है, वह आश्रम है। 'श्रम' शब्द से ही 'आश्रम' शब्द बना है। 'आ' व्यापकतासूचक है।

सब प्रकार के व्यापक श्रम जहाँ समत्वपूर्वक किये जायँ, वह आश्रम है।

आश्रम में साधक लोग रहते थे। वहाँ वे जीवन के अनेक प्रयोग करते थे। कुछ प्रयोग समाज के गुणवर्धन के लिए, तो कुछ अंत:शोधन, चित्त-शुद्धि के लिए करते थे। इस तरह आश्रमों में आध्यात्मिक और आधिभौतिक दोनों प्रकार के प्रयोग होते थे। हमारे यहाँ आध्यात्मिक के साथ-साथ भौतिक प्रयोग भी हुए हैं। इन शोधों में 'कृषि' एक बहुत बड़ी खोज है। कदाचित् हिन्दुस्तान ही पहला देश है, जहाँ कृषि की खोज हुई। 'देव आये, उन्होंने हाथ में कुल्हाड़ी ली, जंगल काटे और खेती की' ऐसा वर्णन वेद में आता है। इसीसे तो भारत को पुण्यभूमि कहा है। अर्थात् कृषि की शोध के बाद अब पशुवत् जीवन जीने की जरूरत नहीं। मृगया, शिकार नहीं करेंगे, सृष्टि की सेवा करेंगे और प्रसादरूप में फल प्राप्त करेंगे। ऐसे अनेक प्रयोग आश्रम में हुए।

तीसरी संस्था है, मठ। यह योग-प्रधान संस्था है। मठ खास करके शंकराचार्य ने चलाये। तो, इस तरह एक उद्योग-प्रधान संस्था, दूसरी प्रयोग-प्रधान संस्था और तीसरी योग-प्रधान संस्था हमारे देश में चली।

आश्रम की विशाल कल्पना

आश्रम एक कड़ी-रूप संस्था थी। उसमें जो आंतरिक प्रयोग होते थे, उनका कुछ निर्णय हाथ में आता था। उस निर्णय पर अमल करने के लिए मठ-संस्था थी। मठ-संस्थाओं को इन आश्रमों की बड़ी मदद मिलती थी। नयी खोज करना आश्रमों का काम था। फिर उसका अमल मठ-संस्था द्वारा होता था। इसी तरह आश्रम में समाज के लिए भी प्रयोग चलते थे। उसमें अगर वे कुछ निर्णय पर पहुँचते, तो उस

निर्णय का अमल गृह-संस्था में होता था। इस तरह आश्रम गृह-संस्था और मठ, दोनों को जोड़नेवाली संस्था थी।

आश्रम की इतनी विशाल कल्पना थी। उसमें हर चीज का तटस्थ दर्शन होता था और आंतरिक एवं वाह्य भावनाओं का भी विकास हो, इस दृष्टि से प्रयोग चलते और समाज का पथ-प्रदशन होता था। आश्रमों का वर्णन वेद में आता है, उपनिषदों में आता है, रामायण, महाभारत और भागवत में आता है, योगवासिष्ठ आदि पुराणों में आता है। कालिदास, भवभूति आदि कवियों ने भी आश्रम के वारे में लिखा है। इस तरह संस्कृत के कुल-के-कुल साहित्य में आश्रम का उल्लेख आता है।

जीवन के दोनों विभाग सक्रिय रहें

हमारे जमाने में गांधीजी ने इस आश्रम-संस्था को चालना दी। ठेठ दक्षिण अफ्रीका से उन्होंने आश्रम चलाये। हिन्दुस्तान में साबरमती और सेवाग्राम में आश्रम स्थापित किये। उनके आश्रमों में दोनों प्रकार के प्रयोग चले। गांधीजी के जीवन में भी हम दोनों विभागों को देख सकते हैं। जीवन के इन दोनों विभागों के बीच परस्पर संपर्क नहीं रहा, तो वह टूट जायगा। किसी चीज के दो टुकड़े होने के बाद जो दशा होती है, वही दशा जीवन की होती है। अगर आत्म-चिन्तन का सम्बन्ध समाज से टूट जाता है या सामाजिक काम का सम्बन्ध आत्मचिन्तन से छूट जाता है, तो उसमें दोष आ जाता है। समाज-कार्य चले और वह फिर अत्यन्त तीव्र प्रवृत्तिमय चले, लेकिन उसमें आत्मचिन्तन न हो, तो उसमें दोष आ जाते हैं। उधर आत्मचिन्तन का अगर समाज के साथ सम्बन्ध न रहा, तो वह उत्तरोत्तर निष्क्रिय होता जाता है। विना आत्मचिन्तन के समाज-कार्य विक्रिय होता है और बिना समाज-कार्य का आत्म-चिन्तन निष्क्रिय। उधर क्रिया चलती है तो वह विकारयुक्त

क्रिया चलती है, इधर क्रिया ही खंडित होती है। ऐसे दो भाग अलग-अलग हो जाते हैं, तो दोनों विभागों का नुकसान होता है।

यह भय गांधीजी के विचारों के लिए भी रहता है। उनके विचारों के दो अंग थे। वे दोनों अलग-अलग हो जाते हैं, तो नुकसान होता है। इस प्रकार का ढंग आजकल कुछ दीख रहा है। गांधीजी के कुछ साथी राष्ट्रधुरा सँभालने में लगे हैं और कुछ निवृत्तिपरायण हैं। दोनों अलग रहेंगे, तो क्या होगा? जो क्रियाशील अंग है, वह विक्रियाशील होगा। फिर सेना बढ़ाओ, टैक्स लगाओ, सब सम्पत्ति सरकार में इकट्ठी करो, सब लोग सरकार के शासन की जिम्मेवारी उठा लें, सब लोगों को लाजिमी तौर पर फौजी तालीम देनी होगी आदि-आदि शुरू हो सकता है। दूसरी बाजू इन सब चीजों की जिम्मेवारी महसूस न करनेवाले, शून्य संशोधन करनेवाले कुछ साधक निकल जायँ। अगर दो टुकड़े हो जायँ, तो उसमें यही भय छिपा हुआ है।

सामाजिक कर्म और चित्त-शोधन

आज तो ऐसे भी कुछ लोग हैं, जिनका गांधीजी के साथ संपर्क रहा। लेकिन वे धीरे-धीरे विदा ले रहे हैं। फिर जो राज्यकर्ता आगे आयेंगे, उनके चित्त पर किस प्रवाह का असर पड़ेगा, यह नहीं कहा जा सकता। इधर दूसरे भी लोग हैं, जो चिन्तन-प्रधान हैं। उनके चिन्तन में भी समाज की जिम्मेवारी का भान रहता है। लेकिन ये लोग भी चन्द दिनों में चले जायेंगे। फिर वे लोग रहेंगे, जिनका गांधीजी के विचार-स्रोत से सीधा सम्पर्क नहीं रहेगा। वे शून्य-संशोधन में भी खिसक जायँ, यह भी संभव है। फिर वही दशा होगी, जो पुराने जमाने में हुई थी।

शंकराचार्य अत्यन्त प्रवृत्तिशील थे और साथ ही भीतर से निवृत्तिपरायण भी। लेकिन उनके शिष्यों में धीरे-धीरे समाज की जिम्मेवारी का भान कम होता चला गया, जन-संपर्क टूटता

चला गया। वे शंकराचार्य के भाष्य का अध्ययन करते रहे, तो कुछ पुण्य-प्रभाव बनता रहा। लेकिन जो क्रांतिकारी पुण्य-प्रभाव शंकराचार्य में था, वह उनके शिष्यों में नहीं रहा।

यही हाल गौतम बुद्ध के सम्बन्ध में भी हुआ। उनमें करुणा का तीव्र संवेग था, जिसके कारण उन्होंने वासनाओं को समाप्त किया। लेकिन उनके शिष्यों ने करुणा को छोड़कर वासना-मुक्ति की खोज की। यह खोज करुणामूलक नहीं, बल्कि उससे अलग रहकर की जाती थी। इनकी साधना चलती थी, लेकिन बुद्ध का जो मूल मैत्री, करुणा का प्रेरणा-प्रवाह था, वह टूट गया।

इसीलिए जीवन के जो मुख्य दो अंग हैं—एक है सामाजिक कर्म और दूसरा चित्त-शोधन—वे अलग-अलग नहीं होने चाहिए। उनका परस्पर संपर्क बना रहना चाहिए। गांधीजी के आश्रमों ने यह काम किया। अब भी किसी-न-किसी तरह यह संपर्क बना रहना चाहिए। गांधीजी की विचारधारा के विकास के लिए भी यह अत्यन्त जरूरी है। ●

१४. स्वाध्याय-प्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्

गांधीजी के जमाने से कार्यकर्ताओं के विषय में मेरी एक शिकायत रही है, जो आज भी न्यूनाधिक रूप में है, कि उत्तम काम में लगे हमारे लोग विचारों का अध्ययन कम करते हैं। हम लोगों में उसकी अभिरुचि ही कम है। हमारी जमात कर्म-प्रधान है, इसलिए अधिकांश समय कर्म में ही चला जाता है। फलस्वरूप पढ़ने के नाम पर 'या अल्लाह !'

पहले मैं कार्यकर्ताओं से पूछता : "गांधीजी ने हाल में जो लेख लिखा है, वह आपने पढ़ा है ?" तो चट से जवाब मिलता : "अरे, हम तो काम करते ही हैं, फिर उनका लेख पढ़ने के झंझट में क्यों पड़ें? आखिर वे यही कहेंगे कि चरखा चलाओ या हरिजन-सेवा करो। हमारा यह सब काम तो मजे में चलता ही है। लेख में फिर दूसरा क्या पढ़ना है ?"

सबसे बड़ी कमी अध्ययन की

मतलब, ये सब गांधी को पी ही गये थे। मैं उन्हें समझाता कि "आपको पढ़ने की फिकर नहीं है, तो गांधीजी को ही हर सप्ताह लिखने की फिकर क्यों रखनी चाहिए ? वे क्यों लिखते हैं ? वे रात और दिन देखे बिना लिखे जाते हैं, इतना भी नहीं देखते ?" तो कहने लगते : "वह सब तो दूसरे लोगों के लिए लिखते हैं, जो समझे नहीं हैं, उनके लिए। हम तो समझ ही गये और उन्हींका काम करने के लिए बैठे हैं।"

इस प्रकार हमारे कार्यकर्ताओं में एक बड़ी कमी है और वह है अध्ययन की। अध्ययन करने में बड़े चोर हैं। ठेठ उस जमाने से आज तक मैं इस विषय पर जितना हो सका, उतना जोर देता

रहा हूँ कि हमें सदैव अध्ययन करते रहना चाहिए, उसके बिना नहीं चलेगा।

मैं स्वयं गांधीजी के निकट बहुत नहीं रहा। दूर रहकर ही काम करता रहा हूँ। उनके लेख मैं बारीकी से पढ़ता था। प्रश्नोत्तर आते, तो पहले प्रश्न ही पढ़ता और अपने मन में उनके उत्तर दे देता। बाद में बापू के दिये उत्तर पढ़ जाता और देखता कि कहाँ फर्क पड़ा है, उनके चिन्तन में क्या विशेषता रही है? इस तरह प्रश्नोत्तर के विभाग को मैंने पढ़ने का नहीं, बल्कि अध्ययन का साधन माना था।

काम के साथ मूलतत्त्व का भी विकास होता रहे

इसलिए समझने की बात यह है कि काम तो सतत करना ही है, लेकिन साथ ही हमारा विचारों का अध्ययन भी चलता रहे। मात्र काम ही बढ़ता जाय, यह नहीं चलेगा। काम का विकास होता है, तो देखना पड़ता है कि उसके मूलतत्त्व का भी विकास हो रहा है या नहीं। कितनी ही बार यह देखने को मिलता है कि काम की अंतरात्मा संकुचित होती जाती है और बाहरी आकार बढ़ता जाता है। अतः भीतरी आत्मतत्त्व जागृत रहे, इसकी चिन्ता रहनी चाहिए और उस बारे में चिन्तन चलते रहना चाहिए। जिन विचारों की बुनियाद पर हमारा काम खड़ा हो, वे विचार ही उसका आत्मतत्त्व हैं। इस तत्त्व का रोज-ब-रोज विकास होता रहना चाहिए। उस पर किसी भी तरह की आँच न आनी चाहिए।

इस तरह विचार और अध्ययन की गहराई की ओर जितना चाहिए उतना ध्यान नहीं दिया जाता, तो काम निष्प्राण होता जाता है और संस्था वगैरह खड़ी हो और उसका आकार भी चाहे जितना बड़ा हो, तो भी वह बिना प्राण की देह जैसी रहती है।

संस्थाएँ निष्प्राण देह जैसी कैसे बनती हैं ?

इसके उदाहरण हमें बहुत देखने को मिलेंगे। रवीन्द्रनाथ टैगोर ने शांति-निकेतन शुरू किया। तब उसमें एक ऊँचा ध्येय और उत्साह था। लेकिन आज उसमें और एक मामूली युनिवर्सिटी में क्या फर्क है ? अपनी पदयात्रा के दरमियान मैं शांति-निकेतन गया था। वहाँ मैंने 'निकेतन' देखा, पर 'शांति' नहीं। मामूली कॉलेज और युनिवर्सिटी में जो झगड़े होते हैं, वे वहाँ भी थे। रवीन्द्रनाथ को गये अभी २५ वर्ष हुए होंगे, लेकिन २५ वर्ष में तो उनका मुख्य स्थान इस तरह स्फूर्ति-हीन बन गया है।

पंडित मालवीयजी ने बनारस हिन्दू युनिवर्सिटी स्थापित की थी। आज उसके भी क्या हाल हैं ?

फिर मैं गया था, विवेकानन्द के स्थान में। वहाँ सरकारी मदद से मामूली काम चलता है। जिन रामकृष्ण परमहंस की अँगुलियों को पैसे के स्पर्श से बिच्छू काटने जैसी पीड़ा होती थी, उनके स्थान में जो भी कुछ निर्माण किया गया, वह सब द्रव्यमय था और वह भी सरकारी मदद से।

कई बार मुझे आर्यसमाज के गुरुकुलों में जाने का मौका मिलता है। जिन्होंने अपनी स्वतंत्र संस्थाएँ चलायीं और अपनी स्वतंत्र डिग्रियाँ चलायीं, वे अब सरकारी मदद पर निर्भर हैं। वहाँ के शिक्षण में भी कोई खास चीज नहीं है। थोड़े-बहुत होम-हवन चलते हैं।

पूर्वी पाकिस्तान में थोड़ा घूमने का मौका मिला। उन लोगों को (बापू की) नोआखाली-यात्रा याद आयी वहाँ बापू के जितने साथी थे, वे सब मेरी यात्रा में शामिल हुए। उनके कहने से मालूम हुआ कि जिसे गांधीजी ने मिशन बनाया था, वहाँ मिशन के लायक चीज रही नहीं। इसी तरह देखता हूँ कि

बापू के दूसरे कामों का भी मूल रस धीरे-धीरे सूख रहा है। इससे मुझे बड़ी वेदना होती है।

अब मेरे सामने सवाल उठता है कि क्या स्फूर्तिक्षय कालानुक्रम से होता रहता है? इसमें कोई शक नहीं कि वेगक्षयकारी सामर्थ्य काल में होती है, इसलिए बार-बार गति देनी पड़ती है। चैतन्य का स्पर्श बार-बार होना चाहिए, तभी गति मिलती है। घड़ी को बार-बार चाभी देनी पड़ती है। इससे यह समझ सकते हैं कि कालानुक्रमेण स्फूर्ति का क्षय होगा। लेकिन वह इतना जल्दी अपेक्षित नहीं था। यह तो २०-२५ वर्षों के अन्दर ही पहले की स्फूर्ति एकदम लुप्त हो रही है।

इसके कारणों पर विचार करने पर दो-तीन बातें ध्यान में आती हैं। हमारी संस्थाओं का देखते-देखते जीवन-रस सूखा जा रहा है। इसका कारण है स्वाध्याय का अभाव। हम कर्मयोग में पड़े हैं। कर्मयोग में उसके लाभ के साथ-साथ हानि भी होती है। शंकराचार्य, रामानुज, बुद्ध, महावीर आदि के अनुयायियों के जो कुछ दोष थे, वे हमने सुधारे, यह बात सही है। हमने कर्मयोग पर अधिक भार दिया। यह सुधार जरूरी था। लेकिन ये लोग आत्मज्ञान में जितने गहरे उतरते थे, उतने गहरे हम नहीं उतरते। इससे कार्य के विकास के साथ हमारी विचार-निष्ठा और तत्त्वनिष्ठा घटती जाती है। हमारे कामों की गठरी भारी बनती जाती है, लेकिन उसका तत्त्व उड़ रहा है। मनुष्य चला जाता है, संस्था रह जाती है। फिर वह निस्तेज—फीकी पड़ती जाती है, दृष्टि छिछली बनती जाती है।

शंकराचार्य के मठों की परम्परा

अब, देखिये ! शंकराचार्य के ज्ञान की परंपरा और उनके मठों की परंपरा लगभग बारह सौ वर्षों से चली आयी है। आज-कल कितनी ही युनिवर्सिटियों की शताब्दियाँ मनायी जा

रही हैं। शंकराचार्य के मठ को आज वारह शताब्दियाँ हुई हैं। यह सही है कि पुराने जमाने में इन मठों से लोगों को जो प्रेरणा मिलती थी, वह आज नहीं मिलती। फिर भी, इतना समय हो जाने पर भी आज वे कुछ-न-कुछ काम कर रहे हैं और आज भी लोगों की उन पर श्रद्धा है। इसका कारण क्या है? हमें देखना चाहिए कि दस-बीस वरस में ही हमारी सव संस्थाओं की प्रवृत्तियाँ मंद हो जाती हैं। कितने ही आश्रम दस-वीस वरस प्रवृत्तिमय रहे और वाद में उनकी प्रवृत्ति मंद हो गयी। ऐसे कई उदाहरण हैं। तव, शंकराचार्य के मठों की परम्परा सैकड़ों वर्षों से कैसे चली आ रही है? यद्यपि उनकी स्फूर्ति कम हो गयी है, फिर भी वह चल रही है। इस संस्था में कोई एक ऐसी ताकत है, जिससे वह स्थिर और चिरंजीवी है। वह कौन-सी ताकत है?

एक वात स्पष्ट है कि जिन्होंने इन मठों की स्थापना की, उनके जीवन में एक विशेष दर्शन हुआ था। दर्शन के विना भी अच्छे-अच्छे काम होते हैं, सेवा के कार्य भी होते हैं। लेकिन वे अच्छे काम और सेवा उस-उस काल के लिए ही होती है। लेकिन जिसमें समग्र जीवन का दर्शन होता है अथवा उसके आधार पर कोई रचना होती है, तो वह रचना काल का प्रतीकार करती और स्थायी वनती है।

शंकराचार्य के पास एक ऐसा अद्वैत-दर्शन था और उन्होंने शिष्यों को अध्ययन की प्रेरणा दी थी। साथ ही अध्ययन के लिए किस प्रकार का अधिकार प्राप्त करना चाहिए, उसका साधन-चतुष्टय द्वारा निर्देश किया।

अध्ययन के साथ हमारे अनुभवी पुरुषों ने, 'व्रत-निष्ठा' का योग साधा। विद्या-स्नात और व्रत-स्नात इन दो प्रकारों से मनुष्य विद्या-संपन्न होता है। कोई विद्यार्थी भले ही वारह वर्ष तक गुरु के घर रहकर विद्या प्राप्त करे, लेकिन उसने व्रत यानी

उनका आचरण न किया हो तो उसे पूर्ण स्नातक नहीं माना जाता था। इसके उलटे अगर उसने व्रत पूर्ण किया हो, लेकिन विद्या पूरी न सीखी हो, तो भी वह पूर्ण स्नातक नहीं माना जाता है। तो, विद्या और व्रत का योग हमारी विशिष्ट परम्परा है। शंकर ने भी इन दोनों पर जोर दिया।

गांधीजी के जीवन-कार्य में इतनी न्यूनता

सर्वोदय-विचार भी एक जीवनव्यापी गंभीर विचार है और उसके लिए भी व्रतयुक्त अध्ययन की आवश्यकता है। सत्य, अहिंसा, अपरिग्रह वगैरह ग्यारह व्रतों पर गांधीजी ने बहुत जोर दिया है। वे इनके बारे में बार-बार कहते थे और उन्होंने अपना जीवन उन्हीं पर रचा था। लेकिन अध्ययन पर जोर देने का मौका किसी कारण से उन्हें नहीं मिला। यद्यपि वे स्वयं अध्ययन का महत्त्व समझते थे और अपने अंतेवासियों से भी इस विषय पर कहते थे। किन्तु उन्होंने एक भारी जन-आन्दोलन चलाया और उसके साथ-साथ काम किया। इस कारण व्रतों को उन्होंने जितना महत्त्व दिया, उतना विद्या को नहीं। इसलिए हमें गांधीजी के जीवन-कार्य में तीव्र अध्ययन की प्रेरणा की न्यूनता लगती है। यह विश्लेषण मैंने इसलिए किया कि यदि हम एक परिपूर्ण सर्वव्यापी दर्शन करना चाहते हों, तो जो विशेषताएँ हैं, उनका पोषण और संवर्धन करें और जो-जो खामियाँ दिखायी दें, उन्हें दूर करें। अगर हम सर्वोदय-दर्शन की अंतःशक्ति को स्थिर रखना चाहते हैं, तो उसकी कमियों को दूर करना होगा।

बुद्ध ने भी अपने शिष्यों को गहरे विचार में नहीं जाने दिया। शंकराचार्य विचार की गहराई में उतरते और शिष्यों को भी उतारते थे। अतः बौद्ध-दर्शन में पीछे से जो मतभेद हुए, उनके शिष्यों में जो अनेकविध गलत विचार पैदा हुए, अलग-अलग सम्प्रदाय बने, वैसा शांकर-विचार में नहीं हुआ।

रखी थी। उन्हें बड़ी आशा थी कि हिन्दुस्तान के श्रीमंत अपनी संपत्ति का एक ट्रस्टी के नाते उपयोग करना स्वीकार करेंगे।

प्यारेलालजी 'दी लास्ट फेज'में लिखते हैं कि महादेवभाई और किशोरलालभाई ने ट्रस्टीशिप के बारे में एक नोट तैयार किया था और विचार-विमर्श के बाद बापू ने उसे पास भी कर दिया था। यह नोट बिरलाजी के पास भेजा गया था। कल्पना यह थी कि वे इस नोट को व्यापारियों के समक्ष रखेंगे और उस दिशा में काम आगे बढ़ेगा। लेकिन प्यारेलालजी लिखते हैं कि बाद में इस नोट का क्या हुआ, पता नहीं। इसका अर्थ यह कि यह बात मंजूर नहीं हुई, संपत्तिवानों से इसकी उम्मीद पूरी नहीं हुई।

यह दास्य-भक्ति का नहीं, सख्य-भक्ति का युग

इस बारे में मेरा कहना यह है कि पुराने जमाने में मालिकी का बँटवारा हुआ था। कुछ मालिक बने थे, तो कुछ सेवक। उस काल में दास्यभक्ति का प्रचार हुआ था। स्वामी प्रेमपूर्वक अपने सेवकों का पोषण करे और सेवक प्रेमपूर्वक अपने स्वामी की सेवा करें, यही इन लोगों की निष्ठा मानी गयी थी। उस समय समाज भी ठीक से चलता था और समाज में किसीको असंतोष भी नहीं था। उसमें कोई दोष था, ऐसा मैं नहीं कहता। जिस काल में यह हुआ, उस काल में यह दोष नहीं था। लेकिन आज यह बात रहनेवाली नहीं है। आज समाज कुछ ऊपर उठ गया है। आज के समाज को दास्य-भक्ति के बदले सख्य-भक्ति की आवश्यकता है। अर्थात् स्वामित्व और सेवकत्व की भावनाएँ ठीक अर्थ में भी आज समाज को रुचिकर नहीं लगतीं। इसलिए मेरा कहना है कि अब दुनिया में से मालिकी नष्ट होनी चाहिए।

लेकिन जब मालिकी छोड़ने की बात आती है, तो कुछ लोग कहते हैं, यह गांधी-विचार के प्रतिकूल न हो, तो भी

भिन्न या असंगत है। उनका मानना है कि गांधीजी तो कभी ऐसा कहते नहीं थे। वे तो केवल ट्रस्टीशिप की ही बात करते थे।

- साधारण तौर पर मैं ऐसी चर्चा में नहीं पड़ता। मैं भी गांधीजी के साथ था। मैंने भी उनकी पुस्तकें पढ़ी हैं। मुझे भी उनके साथ चर्चा करने का मौका मिला है। इसी तरह और भी अनेक लोग गांधीजी के साथ थे। इसलिए हर कोई गांधीजी का नाम लेकर बात करे, इसमें कोई सार नहीं। हम नये युग में हैं। हमारे सामने नया कार्य है। यह भी जरूरी नहीं कि जो बंसी गांधीजी ने बजायी, वही बंसी हमें भी बजानी चाहिए। आज की परिस्थिति में क्या उचित है, यह सोचकर काम करना चाहिए। मैं मानता हूँ कि गांधीजी की विशेषता ही यह थी कि वे परिस्थिति के अनुसार बदलते रहते थे। हाँ, हर वक्त अहिंसा की दृष्टि कायम रखकर सोचते थे। तब भी मैं उनसे पूछता हूँ कि ट्रस्टीशिप क्या है?

ट्रस्टी के दो मुख्य लक्षण

गांधीजी ने 'ट्रस्टीशिप' शब्द का उपयोग किया। ऐसे शब्दों से जैसे कुछ लाभ होता है, वैसे ही कुछ नुकसान भी होता है। 'ट्रस्टीशिप' शब्द के सारे सहचारी भाव ठीक नहीं हैं। आजकल कितने ही खराब सहचारी भाव भी उनके साथ जुड़ गये हैं। 'टस्टीशिप' की परिभाषा तो हम करते हैं, लेकिन उसके पीछे जो विचार है, उस पर अमल करने का बंधन नहीं मानते। अगर यही स्थिति रही, तो मुझे डर है कि क्या हिंसा कभी टलेगी? हमारे यहाँ गरीबी इस हद तक पहुँच गयी है कि गरीब जनता को अन्य तरीकों से उभारना बहुत आसान हो गया है। फिर वे अहिंसा से ही काम लेंगे, ऐसा नहीं कह सकते। इसलिए हमें निश्चय करना चाहिए कि हम 'ट्रस्टीशिप' के सिद्धान्त का अमल करने की पूरी कोशिश करेंगे और अधिक मिल्कियत नहीं

रखेंगे । 'इतनी मिल्कियत उचित है और इतनी अनुचित, ऐसी रेखा थोड़े ही खींची जा सकती है ?' यह कहकर बात टाल देंगे, तो आगे आनेवाले खतरे का निवारण नहीं हो सकेगा । 'ट्रस्टीशिप' शब्द की पावनता का आधार लेकर यदि हम अपने जीवनक्रम को जैसे-का-तैसा चलाते रहेंगे, तो यह उत्तम शब्द भी खराब बन जायगा ।

मेरे विचार से तो ट्रस्टीशिप के लिए माता-पिता और बच्चों के सम्बन्ध से अधिक अच्छी उपमा शायद दूसरी नहीं मिलेगी । इसके लक्षण क्या हैं ? इसका पहला लक्षण यह है कि अपना काम लड़का जल्दी-से-जल्दी उठा ले, ऐसी कोशिश माँ-बाप करते हैं । माँ-बाप इस बात को पसन्द नहीं करते कि लड़के की सदा-सर्वदा चिन्ता करनी पड़े या वह हमेशा के लिए उन पर अवलंबित रहे । वे तो उसे जल्दी-से-जल्दी योग्य बनाने की कोशिश करते हैं, ताकि उसके हाथ में सारा कारोबार सौंपा जा सके ।

ट्रस्टी का यह एक लक्षण है । ट्रस्टी का दूसरा लक्षण है कि लड़का जब तक भार उठाने में समर्थ नहीं बनता, तब तक माता-पिता अपने से ज्यादा चिन्ता लड़के की करते हैं । ट्रस्टीशिप में ये दो मुख्य लक्षण हैं । मजदूरों को थोड़ी अधिक मजदूरी देनेमात्र से ट्रस्टीशिप नहीं हो जाती । उसके मूल में यह बात है ही कि हमेशा के लिए ट्रस्टी की जरूरत न रहे । इसका पूरा प्रयत्न करना चाहिए । यों आज चीन भी कहता है कि वह तिब्बत का ट्रस्टी है । सौ-डेढ़ सौ वर्ष तक अंग्रेज भी भारत के ट्रस्टी होने का ही दावा करते थे । लेकिन गांधीजी की ट्रस्टीशिप की बात का यह अर्थ नहीं ।

गांधीजी को गुणों की ईजारदारी भी मान्य नहीं थी

गांधीजी तो एक युग-प्रवर्तक महापुरुष थे । उन्होंने एक नया जीवन-विचार दिया । आज के युग में भी दास्य-भक्ति

चली आ रही है, समाज में स्वामित्व और सेवकत्व का बँटवारा जारी है, इन बातों का इनके विचारों के साथ मेल ही नहीं बैठता। उन्होंने तो हमारे समाज में गुणों का जो बँटवारा हो गया है, उसके विरुद्ध आवाज उठायी। ब्राह्मण में अमुक गुण होने चाहिए और शूद्र में अमुक गुण, ऐसा हमारे यहाँ चलता आया है। हरएक का धर्म अलग माना जाता है। इस तरह गुणों में भी पूँजीवाद घुस गया। सत्य, अहिंसा, प्रेम वगैरह संतों की पूँजी मानी गयी। बाकी सब लोग संतों के लिए आदरभाव रखते हैं, उनकी पूजा करते हैं, लेकिन उनका अनुकरण नहीं करते। लेकिन गांधीजी ने समझाया कि सत्य, अहिंसा, प्रेम आदि गुण जितने संन्यासी को लागू होते हैं, उतने ही गृहस्थों और दूसरे सभी को। अपनी तमाम शक्ति समाज को अर्पण कर देना और फिर समाज जो कुछ दे, उसे खुशी से लेना चाहिए। आजकल की भाषा में कहें तो गांधीजी ने समझाया कि सद्गुण सामाजिक उपयोगिता के लिए होते हैं।

गांधीजी के इस शिक्षण से पूरी जीवन-दृष्टि बदल जाती है। इस युग में अगर कोई स्वामी अपने सेवक का खूब अच्छी तरह पालन-पोषण करता और अच्छे-से-अच्छा खाने-पीने को देता है, तो भी हमारा मन नहीं मानता। हम कहते हैं कि खा-पीकर तो सुखी है, लेकिन पूर्ण विकास कहाँ हुआ? इसी तरह स्वामी ने स्वामित्वभाव से दया-बुद्धिपूर्वक सेवक का पालन-पोषण किया, तो इससे उसमें अमुक गुणों का विकास तो हुआ, लेकिन पूर्ण विकास कैसे होगा? भर्ता यानी पति पत्नी का उत्तम पालन-पोषण करता है और भार्या यानी पत्नी आज्ञाकारिणी और कहने के अनुसार करनेवाली बनी रहती है और इस प्रकार दोनों अपने-अपने फर्ज का पूरा-पूरा पालन करते हैं, तो भी दोनों का पूर्ण विकास हुआ, यह नहीं कहा जायगा। पति को पत्नी और पत्नी को पति बनना पड़ेगा। यानी स्त्री

को स्त्री और पुरुष दोनों बनना पड़ेगा और पुरुष को पुरुष और स्त्री दोनों बनना पड़ेगा। तभी दोनों का पूर्ण विकास होगा।

ऐसा था गांधीजी का जीवन-विचार ! यह एक बिलकुल नयी दृष्टि है। इसके परिणामस्वरूप उत्तम-से-उत्तम भी पुरानी समाज-रचना अब हमें जरा भी ठीक नहीं लगती। पुराणकाल का चातुर्वर्ण्य उस जमाने में उत्तम होगा, लेकिन आज के जमाने के लिए वह जरा भी अनुकूल नहीं। हरएक वर्ण में चारों वर्ण होने चाहिए। चारों वर्ण के गुण हर मनुष्य में होने चाहिए। आज हम मानते हैं कि ब्राह्मण की शांति और ज्ञान, क्षत्रिय का तेज और शौर्य, वैश्य की दक्षता और कार्य-कुशलता, शूद्र की नम्रता और सेवावृत्ति आज हर मनुष्य में होनी चाहिए, तभी उसका पूर्ण विकास होगा। इसीलिए गांधीजी ने कहा कि स्थितप्रज्ञ के लक्षण भी संपूर्ण आम जनता के लिए हैं और इसीलिए उन्होंने उनका रोज की प्रार्थना में समावेश किया।

गांधीजी के समग्र काम का आन्तरतत्त्व

खैर, सब बातों का सार इतना ही है कि हम सब भगवान् के अंश हैं। कोई छोटा नहीं, कोई बड़ा नहीं। इस वास्ते किसी को दबाना नहीं और खुद भी दबना नहीं चाहिए। जैसे कुटुंब में रहते हैं, वैसे ही मेलजोल से समाज में रहें। इसी जन्म में हमें भगवान् को पाना है। परमेश्वर यानी संपूर्णता। यह संपूर्णता हमें प्राप्त करनी है और समाज को भी प्राप्त करवा देनी है। इसीलिए हमारा सबका जीवन समर्पित हो जाना चाहिए। ऐसी भावना के साथ काम करेंगे, तभी गांधीजी का काम आगे बढ़ा सकेंगे। उनके समग्र काम का आंतरतत्त्व यही था। उसे पकड़कर आज की परिस्थिति में उसका विकास करते रहना चाहिए। उसके बदले उनके स्थूल चरित्र के आकार का पल्ला पकड़े रहेंगे, तो उन पर और खुद अपने पर भी अन्याय करेंगे। ●

१६. राम-नाम शुं ताळी लागी !

बहुत बरस पहले की बात है। उस वक्त मैं साबरमती-आश्रम में था। उस वक्त **'वैष्णवजन तो तेने कहिये'** भजन समय-समय पर गाया जाता था। उसमें भक्त के लक्षण बताये हैं। उसमें के कौन-कौन से लक्षण किस हद तक मुझ पर लागू होते हैं, इसका मैं मन ही मन विचार करता था। फिर मेरी नजर के सामने बापू का जीवन था। इस वास्ते उनके जीवन में ये लक्षण किस तरह और कहाँ दृष्टिगोचर होते हैं, इसका विचार भी मन में चलता। दूसरे के मन की जाँच नहीं करनी चाहिए, खुद के मन की जाँच ही उन्नति में सहायक होती है। लेकिन बापू मेरे लिए भिन्न नहीं थे, पराये नहीं थे। इसलिए ये लक्षण उनमें कैसे हैं, यह देखने का—भले ही अनधिकार कहिये—मैं मन ही मन प्रयत्न करता। तब मेरे ध्यान में आता कि लगभग सभी लक्षण बापू पर लागू होते हैं। लेकिन 'राम-नाम शुं ताळी लागी' यह लक्षण कुछ कम लागू पड़ता है, ऐसा लगा।

अन्तिम दिन का महान् व्याख्यान !

सन् १९२० के आसपास की बात होगी। इसके बाद वे इतनी तेजी से आगे बढ़ते गये कि देखते-देखते राम-नाम में तन्मय हो गये और आखिर में तो मानो उन्होंने राम-नाम की रट ही लगा दी थी, जैसी कि तीन-साढ़े तीन सौ बरस पहले तुलसीदास और तुकाराम ने लगायी थी। आखिर यही नाम लेकर वे गये। उनके दिल्ली के उस वक्त के प्रवचन अखबारों में छपते थे। आखिरी दिन का व्याख्यान अखबारवालों ने केवल 'हे राम !' इतना ही छापा। उनके सारे व्याख्यानों की अपेक्षा यह आखिरी व्याख्यान ही महान् है।

राम-नाम की यह लगन उन्होंने दूसरों को भी लगायी थी। यह जीवन में उतरे, ऐसी कोशिश भी की थी। बापू की एक खूबी थी। विशिष्ट चिन्तन के साथ वे अपना आचरण जोड़ देते और दूसरों में भी ऐसी ही टेव डालने के लिए प्रयत्न करते। गीता की भी यही खूबी है। थोड़ा-सा दर्शन बताकर गीता तुरंत आचरण सुझाती है। सांख्य-बुद्धि की बात की कि तुरंत योग-बुद्धि आती ही है। यह खूबी बापू के जीवन में भी देखने को मिलती है। मंत्र का मनन किया जाता है, लेकिन वह कण-कण में घुस जाय, इसके लिए तंत्र की जरूरत पड़ती है और दोनों मिलकर साक्षात्कार होता है। इस प्रकार बापू ने राम-नाम के साथ रोज-रोज के व्यवहारों को जोड़ दिया। वे बार-बार कहते कि 'राम-नाम लोगे, तो रोग होंगे ही नहीं और हुआ होगा तो मिट जायगा'। ऐसी उनकी अचल श्रद्धा थी। इस श्रद्धा की लगन वे दूसरे कइयों में लगा सकते थे।

इतनी प्रतिभा कहाँ से आयी ?

लोग कहते हैं, बुढ़ापे में आदमी थक जाता है। लेकिन ऐसा नहीं। बापू का जीवन देश ने देखा है। नोआखाली गये, तब उनकी उम्र कितनी थी? तो भी उन्होंने उस वक्त कहा था कि मैं अकेला ही जाऊँगा। अपने साथ के सब लोगों को वापस कर दिया और यह बूढ़ा इस उम्र में अकेला ही नोआखाली गया। यह उत्साह कहाँ से आया? इस प्रकार हमें उनकी उज्ज्वल प्रतिभा का दर्शन हुआ। एक के बाद एक नयी कल्पना उनको सूझती गयी और वह भी एक-से-एक तेजस्वी। आखिरी घड़ी तक वह प्रतिभा उज्ज्वल होती रही। अंत-अंत में उन्होंने वसीयतनामा लिखा, उसमें लिख दिया कि कांग्रेस को लोक-सेवक-संघ में बदल जाना चाहिए। यह केवल मसविदा था, लेकिन इसमें उनकी प्रतिभा दिखायी देती है।

इतना उत्साह, इतना वीर्य, इतनी प्रेरणा, इतना पुरुषार्थ, इतनी नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा कहाँ से आयी ? यह आयी उनकी ईश्वर-निष्ठा से। उनकी ब्रह्मचर्य की साधना से। वैसे तो वे गृहस्थी थे, फिर भी पीछे से उन्होंने ब्रह्मचर्य का व्रत लिया था। जिन्दगी के आखिर तक उन्होंने इसका अभ्यास किया और हमारे जैसे वालकों से भी अभ्यास कराया। मैंने ऐसे सैकड़ों शख्स देखे हैं, जो गृहस्थी होते हुए भी गांधीजी की प्रेरणा से ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं। साधारण तौर पर तो ब्रह्मचर्य का अभ्यास बाल-ब्रह्मचारी, संन्यासी अथवा वानप्रस्थी करते हैं। लेकिन गांधीजी की यह खास देन थी कि गृहस्थाश्रमी भी ब्रह्मचर्य का पालन करते थे।

ऐसी प्रेरणा वे दूसरों को दे सके, कारण वे सिर्फ 'वक्ता' नहीं, 'कर्ता' भी थे। वे जो कुछ कहते, उसका खुद अमल करते और दूसरों को भी जीवन में अमल करने के लिए कहते। सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य आदि का आचरण समाज-सेवा, रचनात्मक कार्यक्रम आदि के लिए जरूरी है—ऐसा गांधीजी ने ही पहले-पहल कहा।

सेवाचर्य–शान्तिचर्य–ब्रह्मचर्य

जब उरुलीकांचन के प्राकृतिक चिकित्सा-केन्द्र की वात चली तो गांधीजी ने क्रमशः एक-एक को बुलाकर कहा कि प्राकृतिक चिकित्सा का काम करना चाहते हो, तो आजन्म ब्रह्मचर्य पालन करना पड़ेगा, तभी तुम्हारे हाथों वह काम बन सकेगा। इसी तरह उन्होंने मणिभाई से कहा कि तुम गो-सेवा करो, लेकिन उसके लिए तुम्हें ब्रह्मचर्य पालना होगा। आज तक किसीने नहीं कहा कि गो-सेवा के लिए आदर्श ब्रह्मचारी चाहिए, इसके बिना क्या वह गो-सेवा हो सकती है ?

इसका अर्थ यह लगाना है कि सेवक ब्रह्मचारी रहे, दूसरी झंझट न रहे, तो वह अच्छी तरह सेवा कर सकता है। तब मैंने

मणिभाई से कहा कि इसका वैज्ञानिक अर्थ तुम्हें समझाता हूँ। गाय को हमने अपने परिवार में शामिल किया। लेकिन यदि मनुष्य की संख्या अमर्यादित रूप से बढ़ती चली जाय, तो गाय और मनुष्य के बीच स्पर्धा चलेगी कि कौन जिये? वैसी परिस्थिति में आदमी गाय को खा जायगा। इस गो-भक्षण से बचना हो और गो-रक्षण करना हो तो मनुष्य को समझपूर्वक, संयमपूर्वक अपनी आबादी मर्यादित रखनी चाहिए और इसीलिए ब्रह्मचर्य है। इस तरह मैंने उस वक्त मणिभाई को समझाया था।

ब्रह्मचर्य केवल निषेधात्मक चीज नहीं है। विषय-वासना से दूर रहना, इतना ही इसका मतलब नहीं है। उल्टे यह तो भावात्मक बात है। इसमें ब्रह्म में लीन हो जाने की बात है। ब्रह्मचर्य का यह परम ध्येय है। इस विशाल ध्येय को ध्यान में रखकर इसके लिए आचरण, वाणी, कृति और चित्त पर संयम रखकर चलना और इस तरह प्राप्त होनेवाली चित्त की शक्तियों का इस ध्येय के लिए उपयोग करना, इसका नाम है ब्रह्मचर्य। ब्रह्म की प्राप्ति के लिए जो चर्य होता है, वही ब्रह्मचर्य है।

इस तरह देखा जाय तो भीष्म का ब्रह्मचर्य ब्रह्मचर्य नहीं था। वह पितृचर्य था। वह पिता की खातिर रखा गया ब्रह्मचर्य था। इसी प्रकार शुरुआत में बापू का भी ब्रह्मचर्य नहीं था, शांतिचर्य था। सन् १९०७ में जब वे जुलू-वार के समय दक्षिण अफ्रीका में सख्त काम करते थे, तब उन्हें लगा कि एक ओर यह सब काम करना और दूसरी ओर कुटुम्ब बढ़ाते जाना ठीक नहीं है। उसमें से उन्हें संयम की प्रेरणा हुई। इसलिए आरंभ में वह शांतिचर्य था। फिर धीरे-धीरे उसकी परिणति ब्रह्मचर्य में हुई, ऐसा मैं मानता हूँ। उन्होंने तीस-बत्तीस वर्ष की उम्र में ब्रह्मचर्य-व्रत का आरंभ किया और अंत तक उसका पालन किया। उनकी ईश्वर-निष्ठा जैसे-जैसे

दृढ़ होती गयी, रामनाम की उनकी लगन जैसे-जैसे तीव्र होती गयी, वैसे-वैसे यह यथार्थरूप से ब्रह्म का चर्य बनता गया।

कुछ आध्यात्मिक सवाल पहले हल हों

बापू के और दूसरों के जीवन में देखेंगे, तो समझ में आयेगा कि उनके सामने कुछ आध्यात्मिक सवाल थे। ये सवाल हल हुए बिना वे आगे बढ़ते नहीं थे। ईसा तैंतीस वर्ष जीये। तीन ही वर्ष वे घूमे थे और इसीकी हमें जानकारी मिलती है। पहले के तीस वर्षों में ईसा ने क्या किया, यह कोई नहीं जानता। कहते हैं कि पहले वे बढ़ई का काम करते थे। लेकिन इस दरमियान उन्होंने एक तो उपवास किये थे और शैतान के साथ उनकी मुठभेड़ हुई थी–इनके सिवा हम और कोई बात नहीं जानते। अब तो यहाँ तक कहा जाता है कि वे तिब्बत तक पहुँचे थे।

थोड़े में मैं कहना चाहता हूँ कि कुछ बुनियादी आध्यात्मिक सवालों को हल करने के बाद ही वे घूमने निकले थे। Love thy neighbour as thyself–अपने पड़ोसी पर अपने जैसा ही प्रेम करो। यह बात आंतरिक अनुभूति के बिना नहीं कही जा सकती। इसी तरह उन्होंने शत्रु पर भी प्रेम करने की जोरदार बात कही थी। वह भी आंतरिक अनुभव के बिना नहीं कही जा सकती थी।

इसी प्रकार बुद्ध ने 'यज्ञ में हिंसा नहीं होनी चाहिए' यह प्रश्न उठाया और वे घूमे। इसकी जानकारी मिलती है। लेकिन उन्होंने तप किया था, तब क्या किया था, यह हम नहीं जानते। वे कितने मण्डलों में गये थे, ध्यान के कितने प्रकारों को आजमाकर देखा था, यह हम नहीं जानते। इन सबके परिणामस्वरूप उन्हें चित्त की शांति प्राप्त हुई और उनका पक्का निश्चय हुआ कि दुनिया में मैत्री और करुणा ये दो महत्त्व की चीजें हैं। यह सब कैसे हुआ, सो हम नहीं जानते।

इसी तरह बापू की आत्मकथा पढ़ने पर कुछ झलक तो मिलती है। श्रीमद् राजचन्द्रजी के साथ उनकी चर्चा हुई थी, यह हम जानते हैं। लेकिन अलावा इसके उनके मन में कितनी ही आध्यात्मिक शंकाएँ थीं और जब तक इन शंकाओं का निवारण नहीं हो गया, और जिन्हें हम Mystic experiences–गूढ़ अनुभव कहते हैं, वैसे नहीं हो गये, तब तक वे काम में नहीं लगे थे।

ईश्वर-सम्बन्धी अनुभव

बापू कहते थे कि सत्य ही परमेश्वर है–Truth is God। लोग इतने पर से मानते थे कि यह वैज्ञानिक बात है। लेकिन जैसा कि सब मानते हैं, यह सिर्फ वैज्ञानिक बात ही नहीं थी। मैंने इस बारे में उनसे जिक्र किया था। खान अब्दुल गफ्फार खाँ की कुमक जाने की बात चल रही थी, तब उन्हें लगा कि ऐसा भी हो सकता है कि वापस लौटना न हो। इसलिए मुझे उन्होंने बात करने को बुलाया। लगभग १५ दिन तक हमारी बातें चलीं। दो-तीन दिन तो वे सवाल पूछते गये और मैं जवाब देता गया। फिर एक दिन मैंने उनसे ईश्वरविषयक अनुभव के बारे में छेड़ा।

मैंने कहा : "आप 'सत्य ही परमेश्वर है' कहते हैं सो तो ठीक है, लेकिन उपवास के समय आपने कहा था कि आपको अन्दर की आवाज सुनायी दी है, यह क्या बात है? इसमें कोई रहस्य–गूढ़ता–है?"

उन्होंने जवाब दिया : "हाँ, इसमें कुछ ऐसा है जरूर! यह बिलकुल साधारण बात नहीं। मुझे आवाज साफ-साफ सुनायी दी थी। मनुष्य बोलता हो और जैसे सुनायी दे वैसा सुनायी दिया। मैंने पूछा कि 'मुझे क्या करना चाहिए?' तो उन्होंने जवाब दिया कि 'उपवास करना चाहिए।' मैंने फिर

पूछा कि 'कितने उपवास करने चाहिए ?' उन्होंने कहा : 'इक्कीस ।"

इसमें एक शख्स पूछनेवाला था और दूसरा जवाब देनेवाला। यानी बिलकुल कृष्ण-अर्जुन-संवाद ही था। बापू तो सत्यवादी थे, इस वास्ते यह कोई भ्रम तो हो नहीं सकता। उन्होंने कहा कि साक्षात् ईश्वर ने मुझसे बात की, इसीलिए फिर मैंने पूछा : "ईश्वर का कोई रूप हो सकता है ?"

सुन सकें तो दर्शन भी हो सकता है

उन्होंने कहा : "रूप तो नहीं हो सकता, लेकिन मुझे आवाज सुनायी दी थी ।"

मैंने कहा : "रूप अनित्य है, तो आवाज भी अनित्य है। फिर भी आवाज सुनायी देती है, तो फिर रूप क्यों नहीं दीखता ?"

फिर मैंने उनसे दुनिया में दूसरों को हुए ऐसे गूढ़ अनुभव की बातें कहीं। अपने भी कुछ अनुभव कहे। ईश्वर-दर्शन क्यों नहीं होता, इस बारे में भी बातें हुईं। फिर मैंने कहा : "आपके मन में सवाल-जवाब हुए, उनका सम्बन्ध ईश्वर के साथ तो है ही न ?"

उन्होंने कहा : "हाँ, उसके साथ सम्बन्ध है। लेकिन मैंने आवाज सुनी, दर्शन नहीं हुए। मैंने रूप नहीं देखा, लेकिन उसकी आवाज सुनी है। उसका रूप होता है, ऐसा अनुभव मुझे नहीं हुआ और उसके साक्षात् दर्शन नहीं हुए, लेकिन हो सकते हैं !"

इस तरह, अंत में बापू ने स्वीकार किया कि यदि ईश्वर को सुना जा सकता है, तो उसका दर्शन भी हो ही सकता है। किसीको श्रवण की अनुभूति होती है, तो किसीको दर्शन की । मुझे यह कहना ही पड़ेगा कि ईश्वर का दर्शन होता है, उसका साक्षात्कार होता है, उसका स्पर्श भी होता है।

उसके बिना और किसी तरह विकारों का नाश नहीं होता। ऐसी किसी अनुभूति को हम भ्रम या मिथ्या नहीं कह सकते। परमेश्वर जिस भूमिका में अ-शब्द है, उस भूमिका में अ-रूप भी है, और जिस भूमिका में वह स-शब्द है, उस भूमिका में स-रूप भी।

बापू की सही पहचान करें

खैर, यह सब मैं आपके सामने इस वास्ते रखता हूँ कि हम ऊपर-ऊपर ही काम करते हैं और जीवन की गहराई में नहीं उतरते—इस तरफ आपका ध्यान जाय। बापू को भी हमने ऊपर-ऊपर से ही पहचाना है और उनकी बाह्य प्रवृत्तियों को ही महत्त्व दिया है। हमने उन्हें राजनीति आदि में सारे समय रचा-पचा देखा है या रचनात्मक कामों में डूबा। लेकिन बापू की यह सही पहचान नहीं है। उनके व्यक्तित्व का मूलभूत पहलू तो आध्यात्मिक है। बापू ने हमारे सामने कितनी ही ऐसी बातें रखी हैं कि केवल आध्यात्मिक क्षेत्र में ही आती हैं, दूसरे किसी क्षेत्र में नहीं। इस वास्ते बापू को पहचानने के लिए उनके व्यक्तित्व की इस आध्यात्मिक भूमिका का आकलन होना चाहिए। हम सबमें वे जो मूल लगन पैदा करना चाहते थे, वह है अध्यात्म की लगन; और सीधी-सरल आम जनता की भाषा में कह सकते हैं—राम-नाम की लगन। ●

१७. कुछ खुलासा

गांधीजी ने कहा है कि अल्पात्मा को नापने के लिए सत्य का गज कभी छोटा न बने। इसका अर्थ क्या है ?

इसका सार यह है कि गांधीजी या दूसरे किसी भी महान् व्यक्ति के चरित्र पर से यह नहीं मानना चाहिए कि उनका जीवन ही सत्य का पूरा नाप है। यह भी संभव है कि किसी बड़े महात्मा के जीवन में भी सत्य के पूर्ण प्रकाश के बदले आंशिक प्रकाश का आविर्भाव हुआ हो। इसीलिए बापू ने कहा कि व्यक्ति के जीवन में जो दर्शन हुआ, उसे अंश-दर्शन समझो। अन्यथा अल्प को पूर्ण समझ बैठेंगे तो बड़ी चीज हमसे अलग रह जायगी। महात्माजी ने कहा है, इसलिए उसे प्रमाण मानकर न चलो। तुम खुद विचार करो और विचार कर निर्णय करो।

× × ×

गांधीजी ने कहा है कि जो आत्मा की, ईश्वर की मित्रता चाहता है, उसे एकाकी रहना चाहिए अथवा कुल दुनिया के साथ मित्रता रखनी चाहिए। दूसरी ओर यह कहा जाता है कि साधना-पक्ष में एकमात्र सत्संग या सद्ग्रंथ ही सहायक होते हैं। इनमें सही क्या है ?

बापू के इस वाक्य का कि 'या तो एकाकी रहना चाहिए या कुल दुनिया के साथ मित्रता रखनी चाहिए', यह अर्थ नहीं कि हमारा कोई आत्मीय मित्र नहीं होगा। आसक्ति-युक्त मैत्री जब किसी खास व्यक्ति के साथ होती है, तो

वह विश्वमैत्री में बाधक बनती है। विश्व के साथ मैत्री का अर्थ है, निर्वैरता। लेकिन सहयोगी मनुष्यों के साथ आध्यात्मिक आंतरिक मंडल बनना ही चाहिए। ऐसा न होता हो, तो उतनी हमारी कमी है। हम अन्योन्य अनुराग से बँधे होते हैं, तो वह भी हमारी शक्ति बन सकती है।

पवनार में बहनों का ब्रह्मविद्या-मन्दिर चलता है। वहाँ की एक बहन अपने प्रान्त में सर्वोदय-कार्य के लिए वापस लौट गयी। तब ब्रह्मविद्या-मन्दिर की एक दूसरी बहन ने मुझे लिखा कि "मैं उस बहन का विरह अनुभव करती हूँ। मैं नहीं जानती कि यह कितना उचित है, या इसका ब्रह्मविद्या के साथ कितना मेल बैठता है।" जवाब में मैंने उसे लिखा: "यही तो ब्रह्मविद्या है।" **हेरि अहरह तोमारि विरह भुवने भुवने राजे हे।** हे भगवन्, इस सृष्टि में तू कहाँ विराजमान है ? तेरा वियोग ही विश्वरूप धारण करके सामने प्रकट हुआ है। हम विश्व को नहीं, तेरे विरह को ही रात-दिन देख रहे हैं। भगवान् सृष्टि में छिपे हैं, और सो भी इस कुशलता से छिपे हैं कि वे हैं ही नहीं, ऐसा तक कहनेवाले और माननेवाले लोग निकलते हैं। यह भगवान् के विरह की महिमा है। इसलिए मैंने उस बहन को लिखा कि तू विरह अनुभव कर रही है, यह साक्षात् ब्रह्मविद्या ही है। यह विरह ऐसी बहन का है, जिसके साथ तेरा कोई स्थूल सम्बन्ध नहीं। उसका तू विरह अनुभव कर रही है, इसीको तो 'भक्ति' कहते हैं। इसलिए हम सब अन्योन्य अनुराग से बँधे रहें और अकारण विरह अनुभव करते रहें।

ऐसे एकत्व के अनुभव में ही ब्रह्मविद्या छिपी है। आध्यात्मिक स्नेह सबके साथ साध सकते हैं। लेकिन व्यक्तिगत परिचय और तन्मूलक स्नेह का अनुबंध तथा तद्विषयक कर्तव्य-भावना मर्यादित ही रह सकती है।

× × ×

गांधीजी का एक प्रसिद्ध वाक्य बार-बार याद किया जाता है कि Organisation is the test of non-violence–'संगठन अहिंसा की कसौटी है'–इसका अर्थ खुलासेवार समझाइये ।

संगठन करने में हिंसावाले कुशलता दरशाते हैं । लोग पक्का और मजबूत संगठन कर सकते हैं । उसमें शासन, नियम-बंधन, आदेश और हुक्म होता है । उनका संगठन योजनापूर्वक होता है । वैसे तो हिंसा में रक्षण की शक्ति है ही नहीं । हिंसा यानी मारना, काटना; मार-काट में रक्षण का छींटा तक नहीं है । लेकिन संगठन के कारण यह शक्ति उसमें आती है ।

हिंसा में संगठन की शक्ति कितनी अधिक है ? अमुक स्थान पर पचास आदमी की जरूरत है, ऐसा लगा कि उतने आदमी वहाँ पहुँचे ही हैं । ये लोग टैक्स लेते हैं और लश्कर तैयार करते हैं । सैनिकों को इतना वेतन देते हैं कि अन्यत्र नहीं मिल सकता । उन्हें अन्य साधन-सुविधाएँ देते हैं । आजकल के युद्धों में से सैनिक भाग भी नहीं सकता । भागनेवाले को पकड़कर उस पर सैनिक अदालत में केस चलाकर फाँसी की सजा सुनायी जाती है । इसलिए या तो वह आगे जाकर मरे या पीछे भागकर मरे। इस तरह इन लोगों का संगठन पक्का होता है । इस कारण हिंसा में मूलभूत रूप से जो शक्ति नहीं है, उस रक्षण-शक्ति का प्रवेश उसमें होता है ।

अहिंसा में हम यह सब नहीं कर सकते । अहिंसा में हुक्म नहीं निकाले जाते, सजा नहीं दी जाती, लालच नहीं दिखाया जाता, कीर्ति का लालच भी नहीं, मरने के बाद स्वर्ग का वादा भी नहीं–इन सबमें से एक भी बात हम नहीं कर सकते । फिर भी अहिंसा में इतना मजबूत संगठन हो सकता है, जितना हिंसा में कभी नहीं हो सकता । अहिंसक संगठन हिंसक संगठन की बराबरी तो कर ही सकता है, बल्कि उसमें चार चाँद लग

जायँ, ऐसा कर सकता है। यह सिद्ध कर बताने में ही अहिंसा की कसौटी है।

हुक्म न किया जाय, सजा का डर भी न हो, और फिर भी अहिंसा अधिक असरकारक साबित हो, तो अहिंसा सफल होती है। आप मुझे सलाह दें और उसका असर (हुक्म की अपेक्षा) अधिक हो, तो वह अधिक सफल है। जबरदस्ती की आज्ञा का लोग पालन करते हैं, लेकिन वह पालन भावपूर्वक नहीं होता। प्रेमपूर्ण सलाह का जितना असर होता है, उतना असर हिंसा-युक्त आज्ञा का नहीं। हमारा भाव शुद्ध हो, मन शुद्ध हो, हमारी वाणी शुद्ध हो, तो नम्रतापूर्वक जो कुछ सलाह देंगे, वह अत्यन्त सहज रूप से सामनेवाले के हृदय में उतर जायगी। इससे उसे अधिक प्रेरणा मिल सकेगी।

इस तरह अहिंसा के पास जो युक्ति है, वह हिंसा की अपेक्षा अधिक सफल हो सकती है। संगठन करने में यह करके देख लो, तब अहिंसा कसौटी से पार उतरेगी। यह कैसे होगा ?

इस पर विचार करते हुए मुझे लगा है कि किसी हुक्म के ताबेदार होकर नहीं, लेकिन हम हिल-मिलकर, एकत्र होकर बैठें, चर्चा करें और तब जो निर्णय हो, वह हमें आज्ञा से भी अधिक शिरोधार्य प्रतीत होना चाहिए। यह कैसे संभव है, इसका विचार करता हूँ तो मुझे ईसा का वचन याद आता है : Agree with thy adversary quickly—'जिसका तेरे साथ मतभेद है, उसके साथ तू जल्दी-से-जल्दी सहमत हो जा।' इसमें सामनेवाले के साथ जुड़ जाने की, मेल साधने की जो कुशलता है, वह अहिंसा में आनी चाहिए।

बापू के उस वाक्य का अर्थ समझने का मैंने प्रयत्न किया, उसमें से मुझे यह अर्थ मिला। यह वाक्य मेरे साथ जो कुछ बात करता है, वह ऐसी ही करता है। अहिंसा किसी पर किसी

प्रकार का दबाव नहीं डालती और इस कारण यदि वह सच होगी तो संगठन किया नहीं जायगा, वह सहज भाव से होगा। फिर भी ऐसा संगठन फौजी संगठन की अपेक्षा अधिक मजबूत होगा।

संगठन दो प्रकार के होते हैं : एक अनुशासन लादकर और दूसरा प्रेम से। प्रेम से संगठन सहज भाव से होता है। अनुशासन लादकर संगठन सहज भाव से नहीं होता, बनाया जाता है। सवाल यह है कि जैसे यह अनुशासन सामूहिक रूप से काम कर सकता है, वैसे क्या प्रेम भी सामूहिक रूप से काम कर सकता है? इसमें प्रेम की कसौटी है। गणसेवकत्व में मुख्य आधार प्रेम का है और इसीसे नेतृत्व की अपेक्षा बहुत ज्यादा शक्ति उसमें आयेगी।

यह है अहिंसा की कसौटी, अर्थात् हममें अहिंसा कितनी आत्मसात् हुई है, उसकी कसौटी।

× × ×

गांधीजी तो हमेशा 'सत्य और अहिंसा' शब्द का उपयोग करते थे। आप इनके बदले 'सत्य, प्रेम और करुणा' शब्द का उपयोग कैसे करते हैं?

इसका कारण जरा विस्तार से समझना पड़ेगा। 'अहिंसा' शब्द का सीधा अर्थ तो इतना ही है कि किसीको दुःख न दिया जाय। लेकिन बापू इसका उपयोग सिर्फ इस अर्थ में नहीं करते थे, इसका आत्मा के एक गुण के रूप में वर्णन करते थे। आत्मा के गुण का वर्णन 'हाँ' रूप में करने के बदले नकारात्मकरूप में करना आसान होता है। जैसे कि अस्तेय, अपरिग्रह आदि। 'किसीका उपकार करना' आदि शब्दों में वर्णन करना हो, तो फिर उसमें अहंकार आ जाने की संभावना रहती है। इसलिए तुरत ही उसके साथ 'अभिमान नहीं करना' यह भी कहना पड़ता है। इसलिए **'परदुःख उपकार करे तोये मन अभिमान**

न आणे रे' ऐसा वर्णन करना पड़ता है। इसकी अपेक्षा अहिंसा शब्द सरल है। लेकिन आज आत्मा के गुणों का स्पष्ट रूप से वर्णन करना जरूरी है, ऐसा प्रतीत होने से मैंने प्रेम और करुणा शब्द का उपयोग किया है। वह 'हाँ'-कारात्मक वर्णन है।

× × ×

लेकिन प्रेम और करुणा में विशेष फर्क क्या है ? समझ में नहीं आता।

दूसरे के सुख से सुखी होना प्रेम है और दूसरे के दुःख से दुःखी होना करुणा। दोनों मिलकर ही पूर्ण गुण-विकास होता है।

फिर सर्वधर्म-समन्वय की दृष्टि भी इन शब्दों में आ जाती है। इसलाम के बारे में लोगों की भले ही अलग कल्पना हो, लेकिन उसमें मुख्य विचार रहम का, करुणा का है। ख्रिस्तधर्म का मुख्य विचार प्रेम का है, जब कि हिन्दू और जैन-धर्म का मुख्य विचार सत्य का है।

भारत के इतिहास की दृष्टि से भी इन तीन शब्दों में तीन महापुरुषों का चिन्तन आ जाता है। भगवान् रामचन्द्र को हम सत्य का अवतार मानते हैं, श्रीकृष्ण को प्रेम का और बुद्ध को करुणा का।

× × ×

'सत्य ही परमेश्वर है' ऐसा गांधीजी कहते थे। इसे समझाइयेगा।

यह विषय गंभीर है। 'सत्य परमेश्वर है', यह समझ में न आये, तो सत्य सत्य तो है ही। सत्य की जीवन में खूब जरूरत है। सत्य के बिना जीवन शुष्क बन जाता है। सत्य जैसा समझ में आये, वैसा आचरण का प्रयत्न करना चाहिए। भूलकर भी

असत्य का मार्ग न पकड़ा जाय। इतनी जागृति रखें, तो सत्य ही परमेश्वर है, यह धीरे-धीरे समझ में आता जायगा।

× × ×

भागवत में हमने पढ़ा है कि कृष्ण की संगति में रहनेवाली गोपियाँ मुक्त हो गयी थीं, तो गांधीजी और आपके साथ रहनेवाली बहनों में संसार-वासना कैसे पदा होती ह ?

बापू महात्मा थे, मैं तो एक अदना साधक हूँ। इससे अधिक कुछ होना भी नहीं चाहता। लेकिन यह बात सच ह कि बापू के ब्रह्मचर्य का अनुभव अपने ढंग का था, मेरा अपने ढंग का। दोनों को ब्रह्मचर्य के लिए बहुत आदर ह। बापू सत्य को प्रधान स्थान देते थे, मैं भी इसी गुण को प्रधान मानता हूँ। मैं मानता हूँ कि सत्य-निष्ठा का जो कुछ अंश हममें उतरा होगा, उसका असर हमारे आसपास रहनेवालों पर पड़ेगा।

लेकिन भगवान् कृष्ण कहाँ और हम कहाँ ? भागवत में गाया है कि **कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्**। इसलिए भगवान् के साथ किसीकी तुलना करना उचित नहीं। लोग बापू की तुलना ईसा के साथ करते हैं, लेकिन मुझे यह पसन्द नहीं। ईसा अपने ढंग से अद्वितीय थे। उनका जोड़ नहीं। करोड़ों भक्त उनके नाम से तर गये।

यही स्थान भारत में भगवान् श्रीकृष्ण का है। इसी तरह राम-नाम भी चलता है। इसलिए उनके साथ किसीकी तुलना नहीं की जा सकती। हमने उन्हें भगवान्स्वरूप ही माना है। उनके साथ किसी मनुष्य की तुलना करना शोभा की बात नहीं है।

इस विषय में इसलाम का विचार बहुत उत्तम है। इसलाम में साफ-साफ कहा है कि अल्लाह के साथ किसीका भी नाम नहीं जोड़ना चाहिए। अल्लाह के अलावा और कोई पूजनीय

नहीं है। मुहम्मद केवल पैगम्बर हैं, वे अल्लाह का संदेश (पैगाम) लानेवाले हैं, वे अल्लाह का स्थान नहीं ले सकते।

× × ×

गांधीजी ने नमक-सत्याग्रह किया। नमक गांधीजी का प्रतीक था। इसी प्रकार क्या भूदान-ग्रामदान भी प्रतीक ही है?

बापू के लिए नमक केवल प्रतीक था, भूदान-ग्रामदान प्रतीक की अपेक्षा विशेष है। यह ग्राम-स्वराज्य का पाया (नींव) है।

× × ×

गांधीजी ने तो कहा था कि सारे रचनात्मक कार्यक्रम का मध्यबिन्दु चरखा है। अब आप कहते हैं कि ग्रामदान को पाया मानो। इस प्रकार आपने तो बापू के मध्यबिन्दु को ही बदल डाला?

बापू का मध्यबिन्दु और बापू का चरखा! कोई यह नहीं कहता कि मेरा मध्यबिन्दु और मेरा चरखा! बापू का चरखा, बापू के व्रत, बापू की अहिंसा! जब तक ये सब बापू के रहनेवाले हैं, तब तक ये सब हवा में ही रहेंगे। कहनेवाले जब यह कहने लगते हैं कि मेरी अहिंसा, मेरा व्रत, तो समझ सकते हैं। लेकिन बापू ने मध्यबिन्दु के रूप में चरखा दिया था और आप जोर देते हैं ग्राम-दान पर, इसलिए कुछ सम्प्रदाय-भेद होता है।

हमारे हिन्दुस्तान में ये सम्प्रदाय-भेद खूब चलते हैं। कुछ भी फर्क हो तो साम्प्रदायिकों को लगता है कि हमारा सम्प्रदाय अब जानेवाला है। यही बात गांधी-सम्प्रदाय में भी है। इसलिए थोड़ा भी फर्क बरदाश्त नहीं किया जाता। लेकिन बापू तो इस बात के एकदम खिलाफ थे कि उनका कोई सम्प्रदाय बने।

बात यह है कि गीता के पन्द्रहवें अध्याय में वर्णन है कि यह संसारवृक्ष उलटा है, इसलिए कि उसकी जड़ें ऊपर हैं और शाखाएँ नीचे। समाज में हम कई बार देखते हैं कि जब ज्ञान की खोज चलती है, तब हमेशा उलटी दिशा में चलती है। फिर जब कर्मयोग की शुरुआत होती है, तब सीधी दिशा में जाती है,

तो हमारे रचनात्मक कार्यक्रम में भी आरंभ में ज्ञान की खोज हुई थी। अब स्वराज्य के बाद कर्मयोग का आरंभ होता है। जनता की जागृति के बिना स्वराज्य असंभव था, इसलिए जनता की जागृति के मार्गों की तलाश हुई थी।

बापू को पहले चरखा नहीं सूझा, करघा सूझा और तब से काम शुरू हुआ। सन् १९१६ में कोचरब में हम कपड़ा बुनते थे, लेकिन सूत सारा मिल का काम में लाते थे। यह ज्ञान की खोज थी, कर्मयोग का आरंभ नहीं। फिर ध्यान में आया कि सूत-कताई हाथ में लेनी चाहिए। फिर चरखा मिला, लेकिन पूनी मिल से लाते थे। बाद में पूनी भी बनाने लगे। उसके बाद ध्यान में आया कि किसानों से सीधे उत्तम कपास लेनी चाहिए।

इस तरह सारी खोजें बुनाई से लेकर उलटी दिशा में हुईं और धीरे-धीरे हम कपास तक पहुँचे। यानी बाद में खेती के साथ सम्बन्ध आया। इतने में तो स्वराज्य मिल गया। उसके बाद जमीन की बात आयी और भूदान आया। तो, **ऊर्ध्वमूलं अधःशाखम्** की तरह किस तरह हम आ गये, यह इस पर से ध्यान में आ जायगा। पहले भूदान भी जरा ऊपर ही था, नितांत मूल में नहीं था। लेकिन आखिर जब ग्रामदान तक पहुँच गये, यानी बिलकुल बुनियाद, आधार मिल गया। इस बुनियाद पर ही अब हमारे समग्र कर्मयोग का आरंभ हो सकेगा। अगर हम पाया ही भूल जायँगे तो चरखा कहाँ खड़ा रहेगा? क्या हवा में कातेंगे? इसलिए इस पाये की तरफ ध्यान नहीं देंगे, तो हमारे चरखे को कोई नहीं पूछेगा। उसका सिर्फ एक सम्प्रदाय बन जायगा। लेकिन बापू चाहते थे, वैसा समग्र रचनात्मक कार्यक्रम हाथ में लेना हो, तो वह ग्रामदान के पाये पर ही संभव है।

× × ×

आपको क्या लगता है? आप गांधीजी का काम किस अर्थ में आगे बढ़ा रहे हैं?

स्वराज्य के बाद स्वाभाविक रूप में ही भूदान-ग्रामदान का काम आगे आ जाता है। मुझे लगता है कि गांधीजी होते, तो वे भी इसी प्रश्न पर ध्यान देते। किसी भी समस्या के हल की अपेक्षा इसके हल की पद्धति को मैं अधिक महत्त्व देता हूँ। और जहाँ तक इस पद्धति का सम्बन्ध है, मैं मानता हूँ कि गांधीजी के विचारों के सार को अमल में लाने का प्रयत्न कर रहा हूँ।

× × ×

गांधीजी का ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त आध्यात्मिक है या एक व्यावहारिक युक्तिमात्र ?

मैं इसे आध्यात्मिक मानता हूँ। यह केवल व्यावहारिक युक्ति नहीं है। येलवाल में देशभर के नेता आये थे। उन्हें मैंने विद्यार्थियों की तरह यह विषय समझा दिया। ट्रस्टीशिप की दो कसौटियाँ मैंने उन्हें बतायीं : १. जिनका पालन करना है, उनकी चिन्ता स्वयं अपने से अधिक करना, और २. जल्दी-से-जल्दी उसे तैयार करके सारे अधिकार सौंप देना। इन दोनों कसौटियों पर कसने के बाद ट्रस्टीशिप का किसीका दावा सच्चा है या झूठा, यह मालूम हो जायगा।

× × ×

साम्यवाद, गांधीवाद और आपके मतवाद में क्या फर्क है ?

मेरा कोई वाद नहीं। 'सर्वोदय' शब्द गांधीजी ने दिया है। उसे लेकर ही मैं घूम रहा हूँ। हम 'वादी' नहीं, 'कारी' हैं—काम करनेवाले हैं। उत्तर ध्रुव की तरफ मात्र देखते रहने से नहीं चलेगा, उस दिशा में चलना पड़ेगा।

× × ×

बापू हमेशा डायरी लिखने के लिए कहते थे। आप क्यों नहीं ऐसा कोई आग्रह रखते ?

हाँ, बापू कहते थे। लेकिन मुझे यह बात तब भी नहीं रुचती थी और आज भी नहीं रुचती। वर्तमान में रहकर

भूतकाल का बोझ साथ में रखकर क्यों भटका जाय ? 'छह बजकर दो मिनट पर उठा, उठने में दो मिनट की देर हुई। यह भूल हुई।' अरे, क्या चूल्हे की भूल हुई ! ऐसी डायरी लिखने की कोई जरूरत नहीं। दिमाग को ताजा और नित्य नूतन रखने के लिए व्यर्थ की तफसीलें लिखने की कोई जरूरत नहीं। जिसमें कोई अनुभव हो, दर्शन हो, चिन्तन हो, बोधकण हो—ऐसा कुछ डायरी में लिखेंगे तो उपयोगी होगा, और ऐसा तो लिखना भी चाहिए।

× × ×

गांधीजी की मृत्यु का समाचार सुनकर सबसे पहले आपको क्या लगा ?

मुझे ऐसा ही लगा कि गांधीजी की मृत्यु हुई नहीं। आज तक मेरे मन में यही खयाल है कि वे जीवित हैं। सज्जनों की कभी मृत्यु नहीं होती। वे सदा जीते हैं। दुर्जन कभी जीते ही नहीं, वे सिर्फ कल्पना के जगत् में जीते है। ●

१८. गांधी-विश्वास या आत्म-विश्वास ?

गांधीजी के जाने के बाद भारत में बहुत अनवस्था दिखायी देती है। लेकिन इसमें निराश होने का कोई कारण नहीं। गांधीजी जैसे मनुष्य के बारे में लम्बे काल की दृष्टि से सोचना चाहिए। उनके जैसी शक्तिवाले मनुष्य के काम का परिणाम बिलकुल नजदीक के क्षेत्र में और नजदीक के काल में कम अपेक्षित है तथा व्यापक काल और व्यापक क्षेत्र में अधिक अपेक्षित। इसमें निराशा का कोई कारण नहीं।

एक दफा एक विदेशी सज्जन मिलने आये थे। उन्होंने मुझसे पूछा : "क्या आप मानते हैं कि आज का भारत गांधीजी की अपेक्षाओं के अनुसार आगे बढ़ रहा है ?"

मैंने जवाब दिया : "इस सवाल का जवाब देना कुछ मुश्किल है, लेकिन इतना कह सकता हूँ कि अनेक मुसीबतों के बाद भी भारत गांधीजी के मार्ग पर चलने की कोशिश कर रहा है। गांधीजी का मार्ग बुद्ध और ईसा का मार्ग है। ईशु ख्रिस्त अगर आज पृथ्वी पर आयें, तो वे क्या देखेंगे ? दुनिया में प्रति-वर्ष बाइबिल की दस लाख से अधिक प्रतियाँ खपती हैं, तो क्या इसका अर्थ यह है कि हम ईसा के मार्ग पर चल रहे हैं ? क्या इससे ईसा को सन्तोष होगा ? ईसा के जन्म-दिन पर वियतनाम में लड़ाई बन्द रखी गयी थी। हाँ, प्रभु ईशु अवश्य हम पर दया करके कहेंगे कि मेरे बालक यथाशक्ति कोशिश कर रहे हैं। मैं मानता हूँ कि बाहर से भले ही ऐसा लगे कि दुनिया में शस्त्रों की दौड़ मची है, लेकिन वह मिथ्या है, वास्तविक नहीं। वास्तविकता तो यह है कि आज दुनिया में शांति की शक्तियाँ जितनी बलवान् बनी हैं, उतनी पहले कभी नहीं थीं।"

इसी प्रकार कुछ समय पहले अमेरिका के दैनिक 'न्यूयार्क टाइम्स' के संवाददाता ने मुझसे पूछा था कि "आज गांधी फिर से यहाँ आये, तो भारत उनके प्रति अपना आदरभाव बताने के लिए जो कुछ कर रहा है, (मूर्तियाँ खड़ी करना, प्रदर्शनियाँ लगाना, मार्गों और बाग-बगीचों को गांधी के नाम रखना आदि) वह उन्हें कैसा लगेगा ?"

महापुरुषों का प्रभाव दूरगामी और व्यापक

उनसे मैंने कहा : "मैं ऐसा मानता हूँ कि गांधी जैसे महा-पुरुष कालातीत होते हैं। वे अल्पकाल की दृष्टि से काम नहीं करते, लम्बी दृष्टि रखकर काम करते हैं। २० वर्ष का समय कोई लम्बा काल नहीं, यह तो एकदम छोटा काल है। थोड़ा ठहर जाने जितना धीरज गांधी को है। वे तो इस देश के राष्ट्रपिता कहलाते हैं, इसलिए हम सब उनके बालक हैं। अब तक हम बालकों की तरह बरत रहे हैं, जैसे कि आप लोग बड़े दिनों की छुट्टियों में नाचते-कूदते और मनोरंजन करते हैं।"

इसलिए मैं तो यह मानता हूँ कि गांधीजी जैसे महापुरुष का प्रभाव दो-चार या पन्द्रह-बीस वर्षों में नहीं आँका जा सकता। वह तो अत्यन्त दूरगामी और व्यापक होता है। उन्होंने जो कुछ विचार दिये हैं, वे अमर हैं। लाख प्रहार होने पर भी वे जीवित रहेंगे। भारत में जीवित नहीं रहेंगे, तो फिलस्तीन में, इंग्लैण्ड में या अमेरिका में जीवित रहेंगे। इतने प्राणवान् विचार हैं वे।

गांधी-विचार अमर है

कहा जाता है कि चीन में, सारे देश में, एक प्रकार के विद्यालय चलते हैं, जिन्हें Half-half School–'आधा-आधा विद्यालय' कहते हैं। इसका अर्थ यह कि सारे विद्यार्थियों को आधे समय तक शारीरिक श्रम करना पड़ेगा। यह कोई प्रतीक-

रूप नहीं कि एक आँटी सूत कात लिया और वस ! लेकिन जैसे किसान श्रम करता है, वैसे श्रम करके आजीविका प्राप्त करनी पड़ेगी। शेष आधे समय में पढ़ाई होगी। जव मैंने यह पढ़ा तो मुझे लगा कि आखिर महात्मा गांधी की वात सुननेवाला एक देश तो निकला। चीन ने गांधीजी की सुनी। आशा रखनी चाहिए कि भारत भी सुनेगा। अगर नहीं सुनेगा और पुरानी शिक्षण-पद्धति चलाता रहेगा, तो मार खायेगा। नयी तालीम का यह सीधा-सादा विचार है कि जीवन में ज्ञान और कर्म का समन्वय होना चाहिए।

इसी प्रकार गांधीजी ने कहा था कि स्वराज्य मिलने के वाद अनाज कम पड़ेगा, तो स्वराज्य फीका पड़ जायगा। इस वास्ते हर घर में अन्न-उत्पादन होना चाहिए। गांधीजी में सूझ थी। उन्होंने कहा कि जहाँ-जहाँ जमीन का थोड़ा-सा भी प्लाट खाली पड़ा हो, वहाँ साग-सब्जी उगायी जाय। शहरी लोगों से कहा कि खाली जमीन न हो, तो गमलों में साग-सब्जी वोओ। सोचो कि गमले में कितना उगेगा ? फिर भी विलकुल न होने से तो कुछ भी होना वेहतर है। करोड़ों लोगों द्वारा जो चीज होती है, वह छोटी नहीं रह जाती। उसका गुणाकार वहुत भारी होता है। वर्षा वूँद-बूँद होती है, पर सर्वत्र होती है, जिससे कुल जमीन तर हो जाती है। इस वास्ते प्रत्येक व्यक्ति को थोड़ा उत्पादन करना चाहिए। एक-एक घर में थोड़ा-थोड़ा उत्पादन हो जाय, तो वहुत अधिक काम होगा। उससे सवको शिक्षण मिलेगा कि देश के उत्पादन के लिए हरएक को कुछ करना है। इसके विना हमें खाने का हक नहीं।

जापान में गांधीजी की इस वात का अमल हो रहा है। वहाँ एक फुट जमीन भी खाली नहीं दीखती। 'कागावा' ने उस पर एक वड़ा-सा उपन्यास लिखा है। कागावा जापान के एक वहुत वड़े महान् ज्ञानी मिशनरी हो गये हैं। इस प्रकार गांधीजी की वात जापान में अमल में आयी। इधर हमारे यहाँ देखते हैं कि

वहुत-सी ज़मीन बेकार पड़ी है। इस बारे में हमें आज नहीं, तो कल गांधीजी की बात कान खोलकर सुननी ही पड़ेगी।

लेकिन गांधीवाले उनकी सिखावन जल्दी भूल गये

इस प्रकार, मैं कह यह रहा था कि गांधी-विचार तो अमर ही है और उसका प्रभाव वहुत व्यापक और दूरगामी है। बीच में कभी इसका प्रभाव मंद हो गया, ऐसा लग सकता है, तो भी बाद में वह पुनः चेतनावान् ही होनेवाला है, इसमें मुझे कोई शक नहीं।

गीता में भगवान् ने कहा कि अपना योग वर्णन करता हूँ, बीच में यह योग नष्ट हो गया था। मराठी में अनुवाद करते समय मैंने उसमें थोड़ा-सा फर्क कर दिया। मैंने कर दिया 'योग लुप्त हो गया था।' क्योंकि आगे जाकर वह फिर चेतनवंत होनेवाला था, इसलिए नष्ट कैसे हो सकता है? लेकिन बीच में भारत में योग लुप्त हो गया था। ज्ञानदेव महाराज कहते हैं कि ऐसा इस वास्ते हो गया कि वासना का जोर बढ़ गया, देहासक्ति बढ़ गयी, इससे लोग आत्मबोध भूल गये। लेकिन यह विचार अमर था, इस वास्ते फिर से अवतार हुआ और फिर से शुरू हुआ।

इस प्रकार गांधी-विचार भी अमर है और वह केवल भारत को ही नहीं, सारी दुनिया पर लागू होता है। देश-काल के अनुसार वाह्य स्वरूप में थोड़ा-बहुत फर्क पड़ेगा, लेकिन आन्तर-तत्त्व अमर है। अतः गांधी-विचार की फिक्र नहीं। लेकिन उनके साथ जिन लोगों ने वर्षों तक काम किया, वे उनकी सिखावन बड़ी जल्दी भूल गये, ऐसा कोई कहेगा।

आत्म-विश्वास क्यों नहीं होता ?

इसके कारणों में भी गहरे जाने की जरूरत है। इसका एक कारण तो यह है कि स्वाध्याय का अभाव है। गांधीवाले

जितने काम में व्यस्त रहे, उतने विचार की गहराई में नहीं उतरे। इसीमें से दूसरा कारण निकलता है कि विचार भी गांधी-विचार ही रहा, वह हमारा विचार नहीं बना। इसीसे आज हम देखते हैं कि सारे गांधीवालों में उत्साह नहीं है, श्रद्धा प्रतीत नहीं होती, आत्मविश्वास नहीं दीखता। हम जिस काम को लेकर बैठे हैं, वह एक अमर विचार है, ऐसी प्रतीति नहीं होती।

एक बार बोधगया में देश के अग्रगण्य रचनात्मक कार्यकर्ता जमा हुए थे। तब ढेबरभाई ने मेरे सामने सवाल रखा कि' 'गांधीजी के जमाने में हम आत्म-विश्वास से काम करते थे, लेकिन ऐसी आत्मश्रद्धा आज हममें नहीं है और इस कारण निराशा अनुभव कर रहे हैं। इस प्रक्रिया को कैसे रोका जाय?"

जहाँ तक मेरा अनुभव है, यह बात ठीक नहीं है। गांधीजी के जमाने में हम आत्म-विश्वास नहीं, गांधी-विश्वास से काम करते थे। गांधी-विश्वास की जगह हम आत्म-विश्वास की आवश्यकता अनुभव करें, इसीलिए भगवान् ने गांधीजी को हमारे बीच से उठा लिया। गांधीजी यदि और चार-पाँच बरस रहते, तो और चार-पाँच बरस हमें आत्म-विश्वास की जरूरत न पड़ती। उन पर हमारी श्रद्धा रेफ्रन्स बुक (सन्दर्भ ग्रंथ) की तरह बैठ गयी थी। हर मामले में गांधीजी को रेफर कर लिया! एक श्रद्धा बैठ गयी, इसीलिए हम उनके पीछे-पीछे चले। लेकिन हम सबमें उस समय कोई स्वतंत्र आत्म-विश्वास था, ऐसी बात नहीं। अधिकांश लोग तो चिन्तन भी नहीं करते थे। इस वास्ते मेरा कहना है कि अब तक हम आत्म-विश्वासी नहीं, गांधी-विश्वासी थे।

फिर, श्रद्धा से हमेशा हानि ही होती है, ऐसा मैं नहीं मानता। उससे लाभ भी होता है। लेकिन जिसे हम आत्मश्रद्धा कहते हैं, वह चीज इससे भिन्न है। गांधीजी के जाने के

बाद हम आत्म-विश्वास की आवश्यकता अनुभव कर रहे हैं, यह एक अच्छा लक्षण है। भगवान् ने भी इसीलिए गांधीजी को हमारे बीच से उठा लिया।

हम महापुरुषों के कन्धों पर खड़े हैं

महापुरुषों की भूलें देखना बहुत विचित्र लगेगा। लेकिन हम छोटे हैं, तो भी उनके कंधों पर खड़े हैं। इसलिए उन्होंने जितनी दूर तक देखा, उससे कुछ अधिक दूर तक हम देख सकते हैं, भले ही हमारी ऊँचाई चाहे कितनी ही कम हो। यह जो मैं कह रहा हूँ, वह केवल गांधीजी के बारे में ही नहीं, अन्य महापुरुषों के बारे में और खासकर गौतम बुद्ध के बारे में कह रहा हूँ।

प्रत्येक महापुरुष को ऐसा प्रयत्न करना चाहिए कि उसके कार्यकर्ताओं में सामूहिक विचार-विमर्श द्वारा काम करने की परंपरा चले, उनका आत्मविश्वास बढ़े और संघ-भावना का विकास हो। बुद्ध ने **संघं शरणं गच्छामि** जरूर कहा। लेकिन वह कब ? जब बुद्ध न हो, तब। बुद्ध जीवित थे, तब तक तो सब-कुछ उन्हींके मार्गदर्शन में चला। आखिर तक वे स्वयं मार्गदर्शन करते रहे। इसके बदले यदि उन्होंने जीते-जी यह कह दिया होता कि "अब आप लोग एक समुदाय बनाओ और विचार करो। जिस विषय में सब एकमत हों, वह करो। मैं केवल साक्षीरूप रहूँगा। कभी मेरी सलाह पूछी जायगी तो आऊँगा अवश्य, लेकिन वह बंधनकारक न होगा। निर्णय तो आप सबको ही मिल-जुलकर करना है।" उन्होंने ऐसा किया होता, तो उनके बाद उनके चार शिष्य बुद्ध के नाम पर ही जिस तरह एकदम भिन्न-भिन्न चार सम्प्रदायों में बँट गये, उस तरह वे कदाचित् न बँटे होते।

बुद्ध ने ऐसा नहीं किया, इससे उनके निर्वाण के बाद उनके शिष्यों के बीच तीव्र मतभेद पैदा हो गये—चार पंथ खड़े हो गये। चारों कहते कि 'मुझे भगवान् बुद्ध ने ऐसा सिखाया

है।' एक ने कहा : 'दुनिया पूर्ण सत्य है।' दूसरे ने कहा : 'नहीं, शून्य है।' तीसरे ने कहा : 'विज्ञान है।' दर्शन का सारा झमेला बुद्ध के नाम पर चला। हजार वर्ष तक उनके बीच झगड़े चले। इसलिए निर्बलता आयी और बाद में शंकराचार्य के प्रहार से तो एकदम सारा टूट गया।

जैसा बुद्ध का, वैसा ही गांधी का हुआ

जैसा बुद्ध का हुआ, वैसा ही गांधीजी का भी हुआ। गांधीजी में एक अपार करुणा काम कर रही थी। इस करुणा की प्रेरणा के कारण वे सबको निरंतर समझाते रहे। बिलकुल आखिरी घड़ी तक जो कोई आया, उसकी बात सुनकर वे व्यक्तिगत सलाह देते रहे। परिणाम क्या निकला ? जब तक वे थे, तब तक तो हम काम करते रहे, लेकिन उनके जाने के बाद हम सब बिखर गये। जैसे बुद्ध के बाद उनके शिष्यों में तीव्र मतभेद हो गये, वैसे ही गांधीजी के बाद भी उनके उत्तम-से-उत्तम साथी बिलकुल एक-दूसरे के विरुद्ध खड़े हो गये। थोड़े-बहुत मतभेद का होना तो स्वाभाविक है। ऐसे विचारभेद के लिए तो परमात्मा ने अनेक मनुष्यों का निर्माण किया है कि सब मिलकर परिपूर्ण विचार हों। लेकिन मतभेद होना एक बात है, मतविरोध होना भी एक बात है, लेकिन यह तो मतों की लड़ाई चल रही है। स्वामी रामतीर्थ का एक वचन है—**लड़ते हैं वीर मर-मर मुझमें, मुझमें, मुझमें।** इसी तरह **लड़ रहे हैं वीर मर-मर गांधीजी में, गांधीजी में, गांधीजी में।** हर कोई गांधीजी का नाम लेता है और उनके नाम पर भीतर-ही-भीतर लड़ता है।

बात यह है कि जब गांधीजी थे, तब एक सर्कस चलती थी। जैसे सर्कस में तरह-तरह के बिलकुल विरोधी स्वभाव के जानवर भी मिल जाते और रिंग मास्टर के अनुग्रह या निग्रह के अन्दर अपना-अपना पार्ट अदा करते हैं तथा सब मिलकर सर्कस

सुशोभित होती है, वही हाल तव था। गांधीजी की खूब व्यापक दृष्टि थी और जैसे विश्वरूप-दर्शन में भगवान् ने सबको एकत्र किया, ऐसा उनका भी विश्वरूप-दर्शन था। किन्तु यह सर्कस वे थे, तभी तक चली। जैसे ही वे गये, विरोधी स्वभाव-सव एक-दूसरे के सामने हो गये। ठीक बुद्ध के जाने के वाद वाले जैसी स्थिति हुई, वैसी ही गांधीजी के बाद भी हुई।

बुद्ध के शिष्यों के मतभेद तो फिर भी दार्शनिक थे, दर्शन के क्षेत्र में थे, लेकिन गांधीजी के शिष्यों के मतभेद तो व्यवहार में थे। यहाँ तो एक नेता यह कहता है कि दूसरे नेता के मार्ग पर देश चला तो सर्वनाश हो जायगा। नेहरू, सरदार, राजेन्द्र-बाबू, राजाजी, कृपालानी, जयप्रकाश, जिन्होंने लगातार वर्षों तक गांधीजी के साथ काम किया, उनमें भी इतने तीव्र मतभेद उपस्थित हो गये ! फिर ऊपर से इनमें से हरएक यह दावा करे कि मेरी बात गांधीजी के अनुसार ही है ! इस तरह गांधीजी का नाम लेकर अत्यन्त तीव्र विरोध देश में पैदा हुआ। आज हमारे यहाँ चिन्तन में जो अराजकता, अव्यवस्था मालूम पड़ती है, उसका मूल कारण यही है।

...तो एकमत होकर काम करने की आदत पड़ती

मान लें कि गांधीजी अपना कारुण्य-मोह जरा दूर रखते, परिस्थिति उन्हें कारुण्य-मोह दूर रखने की अनुकूलता देती और वे अपने सव साथियों से कहते कि "भाइयो, प्रत्यक्ष मार्ग-दर्शन से मैं हट जाता हूँ, तुम सब मिलकर हर मामले पर विचार करो और जो करना हो, एकमत होकर करो, जितने विषयों पर आपमें सर्वसम्मति हो, उतना ही कार्यक्रम लेकर आगे बढ़ो और जिस पर एकमत न हो सको, उसे तुरत के लिए छोड़ दो"—अंतिम पाँच-सात वर्ष वे ऐसा आग्रह रखते, तो क्या परिणाम आता ? उनके साथियों में एकत्र चिन्तन करने

और एकमत होकर काम करने की कुछ आदत पड़ती और देश को भी लाभ होता ।

लेकिन बापू ऐसा न कर सके, क्योंकि उनमें एक अपार करुणा काम कर रही थी । उसके कारण वे अंतिम घड़ी तक व्यक्तिगत मार्गदर्शन करते रहे । इसी करुणा के कारण उन्होंने अंत-अंत में कांग्रेस और अपने साथियों के साथ रिश्ता बनाये रखने की कोशिश की । आप देखेंगे कि आखिरी दिनों में गांधीजी के साथी उनके खिलाफ गये, तो भी वे उन्हें जोड़े रहे । इसमें उन्होंने सत्य की अपेक्षा करुणा पर बहुत जोर दिया । करुणासक्ति (करुणा की आसक्ति) के कारण आखिरी घड़ी में भी वे साथियों के खिलाफ नहीं हुए और उनकी बात को अपनी सहमति दे दी । अंग्रेजी में एक शब्द है Acquiescence अर्थात् अमुक वस्तु हो चुकी हो, तो उसमें अपने को सहमत कर देना ।

बापू कितनी ही बार कह चुके थे कि हिन्दुस्तान-पाकिस्तान दो भाग करना यानी भारत का छेदन करना, जीवित व्यक्ति का छेदन करना है । उन्होंने अंग्रेजी में Vivisection शब्द का उपयोग किया था । फिर भी अंत में इसी बात पर अपनी सहमति दे दी । यह विचार छोड़ दिया, ऐसी बात नहीं, लेकिन उन्होंने सोचा कि इस बात पर आज जोर दूँगा तो मामला बिगड़ जायगा । इस वास्ते विभाजन स्वीकार कर लिया । यह भी अपनी अपार करुणा के कारण ही ।

सत्यनिष्ठ मनुष्य अन्त में करुणानिष्ठ बन गया

इस प्रकार आखिर सत्यनिष्ठ मनुष्य करुणानिष्ठ बन गया । सत्य इतना टूटा । बापू के जीवन की यही शोकांतिका है—बाकी गोली लगना कोई बड़ी शोकांतिका नहीं है । जो सत्य था, उसी पर बापू अड़े रहते तो क्या होता, यह आज नहीं कह सकते । तो भी कदाचित् उनकी हत्या हो जाती । लेकिन बापू

को लगा कि अब इस स्थिति में मैं विभाजन को मान्य नहीं करूँगा, तो मेरे साथी बेचारे मारे जायँगे। एक बाजू अंग्रेज सरकार और दूसरी बाजू गांधी, इन दोनों के बीच बेचारे पिस जायँगे। इस करुणादृष्टि से अंत में विभाजन की बात के साथ सहमत हो गये, ऐसा मुझे विचार करने पर लगता है।

खैर, यह सब समझने की जरूरत है। इसे समझेंगे तो पिछले अनुभवों पर से कुछ सीख भी सकेंगे। विचारों की हमेशा छानबीन होती रहनी चाहिए। सभी प्रेरक विचारों का अध्ययन हो। उनमें अविचार, दुर्विचार के जो अंश हों, उनका निवारण किया जाय। इस तरह विचारों का अनुशीलन होता रहेगा, तो जो स्फूर्तिक्षय मालूम पड़ रहा है, वह मालूम नहीं पड़ेगा।

फिर एक बार स्वस्थतापूर्वक अमुक विचार स्वीकार लें, तो बाद में वे अपने बन जाने चाहिए, दूसरे के नहीं। फिर वह गांधी-विचार ही न रहे, अपना विचार बन जाय। ऐसा हो, तभी हम इन विचारों का आत्मविश्वासपूर्वक अनुसरण और परिशीलन कर सकेंगे। भले ही विचार गांधी की मार्फत आये, लेकिन एक बार आपको पसन्द आया और आपने स्वीकार किया, इसलिए वह आपका बन गया। एक पिता की कन्या को पसंद किया और स्वीकार कर लिया, इसलिए वह तुम्हारी हो गयी। बाद में कहना कि उसकी जवाबदारी मेरी नहीं है, उसके पिता की है—यह बिलकुल बेजवाबदारीपना है। इस वास्ते गांधीजी की ओर से हमें जो विचार मिले हैं, वे हमारे ही हो जाने चाहिए, हमें उनको आत्मसात् कर लेना चाहिए। ऐसा होगा तो कभी निराशा नहीं आयेगी, प्रेरणा का अभाव नहीं रहेगा और हम निरंतर पूर्ण आत्मविश्वासपूर्वक काम कर सकेंगे। ●

१९. गांधी-विचार का प्राणकार्य

सन् १९४५ में अंतिम वार जेल से आने के वाद गांधीजी ने 'समग्रचिन्तन' शव्द वार-वार कहना शुरू किया था। कहते थे कि "समग्र होना चाहिए, समग्र होना चाहिए। इस समग्र का अर्थ यह नहीं कि चार-पाँच टुकड़ों को सी लें। समग्र सिलाई नहीं, वुनाई है। कुल रचनात्मक कार्यक्रमों को एक-दूसरे में ताने-वाने की तरह ओतप्रोत हो जाना चाहिए। तभी शक्ति खड़ी होगी।"—आखिर-आखिर वे वार-वार यही कहते।

स्वराज्य आया, पर उससे गांधीजी को सन्तोष नहीं था। यह तो ठीक कि स्वराज्य मिल गया, लेकिन इसमें उनकी आशाएँ फली नहीं। न खादी-ग्रामोद्योग-विषयक आशाएँ फलीं, न शांति-स्थापना की और न अहिंसा के विचार की ही फलीं। यानी उनके जीवन के जो वड़े पहलू थे (यानी खादी-ग्रामोद्योग-आदि से आर्थिक क्षेत्र में लोग स्वयंशोषण से मुक्त हों और अहिंसा तथा सत्याग्रह से राजकीय क्षेत्र में लोग स्वयंशासन से मुक्त होकर स्वराज्य प्राप्त करें), उनके वारे में उनके दिल में असन्तोष रहा। इसका वर्णन प्यारेलालजी के अद्‌भुत ग्रंथ 'दि लास्ट फेज' (पूर्णाहुति) में मिलता है। यानी आखिर में उनका तीव्र चिन्तन चलता रहता था। अपने सव कामों का कुछ नवसंस्करण करने को वे सोच रहे थे।

वापू को नवसंस्करण करने का मौका नहीं मिला

लेकिन इस वात को अमल में लाने का उन्हें मौका नहीं मिला। आखिर एक सम्मेलन उन्होंने सेवाग्राम में वुलाया था।

उनका विचार था कि अपने सभी साथियों को वहाँ एकत्र करके कुछ समझाऊँ। लेकिन यह हो नहीं पाया। सम्मेलन हुआ जरूर, लेकिन बापू के निधन के बाद। उनके जाने के बाद ही सारे साथी सेवाग्राम में जमा हो सके। तब मार्गदर्शन करने के लिए हमने बापू को अपने बीच रहने नहीं दिया था।

बापू के जाने के बाद मैं सोचने लगा कि अब मेरा क्या कर्तव्य है। तब ध्यान में आया कि मुझे अपना स्थान छोड़ना पड़ेगा। सेवाग्राम-सम्मेलन में पंडित नेहरू की स्थिति देखकर और उनकी माँग होने पर मैंने जाहिर किया कि मैं निराश्रितों की सेवा के लिए प्रयोग के तौर पर छह महीने दूँगा। उस समय कुछ रचनात्मक कार्यकर्ताओं ने पंडित नेहरू आदि राजकीय नेताओं के समक्ष रचनात्मक काम के लिए सरकारी मदद की अपेक्षा व्यक्त की थी। पर मैंने खासकर पंडित नेहरू को संबोधित करके कहा कि मैं आपसे किसी प्रकार की मदद की अपेक्षा नहीं रखता, फिर भी आपके काम में कुछ मदद कर सका, तो मुझे खुशी होगी।

नारदमुनि बनकर सर्वोदय नहीं लाया जा सकता

इस वास्ते मैंने थोड़े साथियों के साथ निराश्रितों को बसाने का काम किया। इन छह महीनों में हम लोगों ने जो मजा देखा, उसका समग्र वर्णन करना हो तो एक ग्रंथ ही लिखना पड़ेगा। मुझे 'लियेजाँ' (Liaison—सम्पर्क) का काम करना था। अपनी भाषा में इसे 'नारदमुनि' कह सकते हैं। यहाँ का वहाँ पहुँचाना और वहाँ का यहाँ, यह काम करना था। मैंने देखा कि पंडितजी कहते थे एक बात और जिनके मार्फत वह करवाना था, उनके विचार भिन्न थे। इसलिए वह बात बनती नहीं थी। मैं कुछ कहता तो पंडित जी कहा करते कि मुझे यह मान्य ही है और इस बारे में तीन

महीने पहले आदेश निकाल चुका हूँ। फिर भी उस पर अमल नहीं होता था। ऐसा था वहाँ का अंधा-धुंध कारोबार !

उन दिनों मैंने बहुत मेहनत की। लेकिन छह महीने से देखा कि इस काम से हमारा मतलब सधेगा नहीं। नारद मुनि बनकर सर्वोदय नहीं लाया जा सकता। इसलिए छह महीने होते ही यह काम छोड़कर मैं निकल पड़ा।

फिर मैं सोचने लगा कि मुझे क्या करना चाहिए ? मैंने देखा कि बापू के जाने के बाद हिन्दुस्तान में सर्वत्र बेहद निराशा छायी हुई थी। सबके सब रचनात्मक कार्यकर्ता हिम्मत खो बैठे थे। उनको कोई आशा नहीं थी कि उनकी कोई दाल गलेगी। वे यह मानने लगे कि अब तो हमारे विचार का अंत आ गया है। हमारा कुछ नहीं चलेगा। एक युग समाप्त हुआ और दूसरा युग शुरू हुआ। उसमें अहिंसा का विचार फूले-फलेगा नहीं। सरदार पटेल का एक व्याख्यान हुआ था। उसमें उन्होंने कहा था कि "लोगों ने गांधीजी की बात नहीं मानी तो हमारी तो कौन माननेवाला है ? अब देश आजाद हुआ है, तो ऐसे उद्योगों का विकास होना चाहिए जिनमें 'वार पोटेन्शियल'–युद्ध-गुंजाइश हो।"

लेकिन मैं मन में यह सोचता रह गया कि दुनिया में 'वार पोटेन्शियल' की जितनी आवश्यकता है, उससे अधिक आवश्यकता 'पीस पोटेन्शियल' की है। हमें ऐसे काम खड़े करने पड़ेंगे, जिनमें शांति की गुंजाइश हो, क्षमता हो। इस प्रकार मैं शांति-गुंजाइशवाले कामों के बारे में सोचने लगा।

और अन्त में प्रकाश मिला

प्रकाश की खोज और खोज में मैं तेलंगाना पहुँचा। मैं जानता था कि कोई-न-कोई प्रकाश है जरूर, लेकिन मुझे वह दीखता नहीं था। आखिर वह मुझे वहाँ मिला। उसे मैंने इश्वर का इशारा माना। मानो कोई अन्दर से कह रहा

हो : "तेरी अहिंसा पर श्रद्धा है या नहीं ? अगर इसमें डरेगा या शंका रखेगा, तो अहिंसा वगैरह पर से अपना विश्वास तुझे छोड़ देना पड़ेगा।"

वस, तव से यह भूदान का काम शुरू हुआ। एक नयी प्रक्रिया का आरंभ हुआ। यह चीज भारतीय मानस को स्पर्श कर गयी। हजारों और लाखों एकड़ जमीन भूदान में मिली। १२ लाख एकड़ जमीन भूमिहीनों के कुटुंबों में बाँटी गयी। सीलिंग आदि के कानूनों द्वारा मुआवजा देने पर भी भूदान से कम ही जमीन भूमिहीनों को मिली है।

आन्दोलन नहीं, आरोहण

भूदान में से ग्रामदान प्रकट हुआ। नयी बुनियाद पर गाँव का समग्र आयोजन ! केवल व्यक्तिगत दान नहीं, लेकिन सामूहिक संकल्प और पुरुषार्थ से ग्राम-समाज की नयी रचना ! ग्राम-स्वराज्य की दिशा का समग्र कार्यक्रम ! धीरे-धीरे यह फैलता गया। आज यह ग्रामदान प्रखंडदान, जिलादान और प्रांतदान तक पहुँच चुका है। मैं इसे 'आन्दोलन' नहीं, 'आरोहण' कहता हूँ। जैसे-जैसे ऊपर चढ़ते जाते हैं, वैसे-वैसे दर्शन व्यापक होता जाता है। नये-नये पर्व दृष्टिगोचर होते जाते हैं। साथ ही रास्ता अधिक-से-अधिक कठिन होता जाता है।

इतना सारा काम १८-१९ वर्ष में हुआ। यह छोटी वात नहीं। स्वराज्य का आन्दोलन देखिये। कांग्रेस का काम १८८५ से शुरू हुआ और 'स्वराज्य' शब्द १९०६ में मिला। तब तक दुःखी लोगों की सेवा करना, सरकार की टीका करना आदि काम चलता था। सन् १९०६ में, कलकत्ता-अधिवेशन में दादाभाई नौरोजी ने कहा था कि "स्वराज्य के विना हिन्दुस्तान में दुःखों का निवारण नहीं हो सकता।" इस तरह २१ वर्ष तो 'स्वराज्य' शब्द के आगमन में गये। फिर गोखले, तिलक

आदि ने इस शब्द को रटा। उसके बाद गांधीजी आये। उन्होंने स्वराज्य के लिए जबरदस्त आन्दोलन चलाया। सन् १९२१ में उन्होंने कहा : "एक वर्ष में स्वराज्य हासिल करेंगे।" एक वर्ष में तो नहीं मिला, लेकिन एक भावना निर्माण हुई। आखिर स्वराज्य मिला १९४७ में, अर्थात् कांग्रेस शुरू होने के ६२ वर्ष बाद! इस तरह देखा जाय, तो इन १८-१९ वर्षों में जो काम हुआ है, वह कोई छोटी बात नहीं। अहिंसक समाज-रचना के विचार का खूब विकास हुआ और उसके लिए लोक-सम्मति मिली। गाँव-गाँव पहुँचकर ग्रामदान-पत्र पर लाखों लोगों के हस्ताक्षर लिये गये। धीरेन्द्रभाई कहते हैं कि गांधीजी के जमाने में ग्रामीण-प्रदेश में इतना व्यापक आन्दोलन कभी नहीं हुआ था।

इस प्रकार सर्वोदय का विचार आज एक मुकाम पर आ पहुँचा है। आखिरी मंजिल अभी दूर है। लेकिन ईश्वर ने चाहा तो यह चीज हमारे बुनियादी विचार को उन्नत करेगी। बापू के ग्राम-स्वराज्य के स्वप्न को साकार करने के लिए इससे आधार मिलता है, एक भूमिका तैयार होती है। इसमें से बापू की अधूरी आशाएँ फलीभूत हो सकती हैं, ऐसी संभावना निर्माण हुई है। अहिंसक समाज-रचना खड़ी करने के लिए जड़ से प्रयत्न शुरू करने का यह एक अनूठा अवसर हमारे सामने आया है। सर्वोदय-विचार को माननेवालों के सामने यह एक आवाहन है।

संघात, चेतना, धृति

गीता में भगवान् ने संघात, चेतना और धृति की बात कही है। भगवान् क्षेत्र–शरीर–का वर्णन कर रहे हैं। उसमें रूप है, इंद्रियाँ हैं, मन है। ऐसे अलग-अलग तत्त्व बताये। फिर भी भगवान् को नहीं लगा कि शरीर का वर्णन पूरा

हुआ। इसलिए उन्होंने कहा कि एक संघात नाम का तत्त्व है। संघात यानी एकत्र होना।

बापू ने अनेक रचनात्मक संस्थाएँ खड़ी कीं, उन सब संस्थाओं में पूरा-पूरा वैचारिक मेल था, ऐसी बात नहीं। विविध रचनात्मक काम अलग-अलग चलते थे। उनका जैसा चाहिए वैसा समन्वय हुआ नहीं था। इसी वास्ते बापू आखिर-आखिर में 'समग्र' की बात कहते थे। उनके ध्यान में यह बात आ गयी थी कि 'संघात' के बिना काम नहीं चलेगा। इसलिए उन्होंने कहा भी था कि इन सब संस्थाओं का एक संघ बन जाय। जीभ काटकर टेबुल पर रख देने से वह थोड़े ही बोलेगी? कान काटकर रख देंगे तो वे थोड़े ही सुनेंगे? इसलिए हरएक को शरीर के साथ जुड़ा रहना होगा। इसी तरह सारे काम एक सूत्र में पिरोये रहें। ग्रामदान द्वारा हमें ग्राम की एक इकाई मिलती है, जिसमें बापू की सभी रचनात्मक प्रवृत्तियाँ खड़ी की जा सकती हैं।

गीता में भगवान् आगे स्पष्ट करते हैं कि उसके बाद 'चेतना' चाहिए। सब-कुछ एकत्र हो जाय, लेकिन चेतना न हो तो किस काम का? सारी रचनात्मक संस्थाएँ मिल गयीं, लेकिन संघ में प्रचलित समाज-व्यवस्था को बदलने की प्रेरणा न हो, तो क्या लाभ? ऐसे समय ग्रामदान-आन्दोलन एक क्रांति की मशाल लेकर आता है, जिससे हमारे कामों में चेतना का संचार हुआ।

संघात आया, चेतना आयी, तो भी वर्णन पूरा नहीं हुआ। भगवान् ने उसमें जोड़ा धीरज। धीरज के साथ सातत्यपूर्वक काम करते रहना चाहिए। सातत्य के बिना क्रांति नहीं होती। लेनिन और गांधी ने क्रांति की। क्या लेनिन ने क्रांति के लिए दो दिन का समय दिया था? क्या गांधी ने क्रांति के लिए दो दिन का समय दिया था? सन् १९०८ में उन्होंने 'हिन्द-स्वराज्य'

लिखा और कहा कि यह मेरा स्वप्न है और इसे साकार करने के लिए मेरे प्राण अर्पित हैं। लगातार ४० वर्ष तक वे इस काम में लगे रहे। तो, इस तरह हमें ग्रामदान के आधार पर चेतनावान्, धैर्यशाली सम्मिलित कार्यक्रम चलाना है। तभी अहिंसक समाज-रचना खड़ी कर सकेंगे।

हमारे काम के लिए लोगों का वोट

आज भी कहा जाता है कि ये सारे ग्राम-दान और आपका विहार-दान सब कागज पर ही है न ? ठीक है। इन संकल्प-पत्रों को व्यवहार में लाना है। मैं यह पूछता हूँ कि ये वोट आदि मिलते हैं और सरकारें चलती हैं, वह क्या है ? कागज पर ही न ? लोकशाही का नाटक चलता है। मोटरों में भर-भरकर लोगों को ले जायँगे, एक दिन खिलायेंगे-पिलायेंगे और मत-पेटी में पर्चा डालने को कहेंगे। फिर भी आप देखते हैं कि उससे कुछ काम चलता ही है।

लेकिन ग्रामदान में तो लोग स्वयं संकल्प करते हैं। अब तक ऐसा एक व्यापक सामूहिक संकल्प हुआ है। इस संकल्प का व्यवहार में अमल कराना है। ग्राम-सभा बनाकर सर्वानुमति से काम करना है। जमीन का बीसवाँ हिस्सा भूमिहीनों को दान में देना है। जमीन की मालिकी का खाता ग्रामसभा के नाम करना है। प्रत्येक की चालीसवें हिस्से की आय से ग्रामकोष खड़ा करना है। गाँव में व्यसन-मुक्ति, पुलिस-अदालत-मुक्ति के लिए अभियान चलाना है। गाँव में शांति-सेना खड़ी करनी है। गाँव में शांति रहे, झगड़े न हों और हो सके तो गाँव में ही बैठकर उनका फैसला किया जाय, ऐसी व्यवस्था करना है। यह सब तत्काल करना है। ऐसा समग्र आयोजन हम कर सकें, तो एक बहुत बड़ी ताकत पैदा होगी। कागजी ग्रामदानों में इतनी अधिक संभावनाएँ भरी हैं। वोट की

जो चिट्ठियाँ डाली जाती हैं, उनसे ऐसी कोई भी लोकशक्ति पैदा नहीं होती।

'यूनियन ऑफ सर्वोदय रिपब्लिक्स'

जब तक ग्रामदान नहीं होते, तब तक ग्राम-ग्राम में ग्राम-परिवार नहीं बनता और हमारे समग्र काम के लिए कोई आधार नहीं मिलता। फिर नया युग विश्व-राष्ट्र का युग है। उसमें भारत उसका एक प्रान्त होगा और उत्तर प्रदेश बनेगा उसका एक जिला और ग्राम एक परिवार। आज परिवार छोटा है, उसे गाँव तक फैलाना है। इसलिए पहले ग्रामदान करके गाँव को एक परिवार बनाना है। तभी विश्व-शान्ति की बात कर सकेंगे और आज के जमाने के योग्य बन सकेंगे। ग्राम-शांति होगी तो वही विश्व-शांति में योग दे सकेगी। इसीलिए एक बाजू 'जय जगत्' और दूसरी बाजू 'ग्रामदान' इस दृष्टि से विचार करना पड़ेगा। ग्राम-समाज की भूमिका के बिना कोई बात नहीं हो सकेगी। जैसे यू० एस० एस० आर० (युनाइटेड स्टेट्स ऑफ सोवियत रिपब्लिक्स) है, वैसे ही हमें गाँव-गाँव को 'सर्वोदय रिपब्लिक्स' बनाना पड़ेगा। फिर 'यूनियन ऑफ सर्वोदय रिपब्लिक्स' बने, तभी जिसे हम पीस-पोटेन्शियल या शांति की संभावना, शांति की कूवत कहते है, वह प्रकट होगी।

आज तो दुनिया में कल्याणराज्यवादी, समाजवादी, साम्यवादी आदि सबका आखिरी सेंक्शन लश्कर ही ह। वे सब एकवादी हैं। सारी दुनिया को वे ग्रासे बैठे हैं। उनका सारा दारोमदार लश्कर पर ही है। आज लोकशाही का आधार भी बाहरी आक्रमण के डर के कारण और आंतरिक विद्रोह की दहशत के कारण लश्कर पर ही ह। जिस लोकशाही का आधार लश्कर पर है, वह लोकशाही सही लोकशाही ही नहीं। जब तक लोकशाही का आधार लश्कर

पर रहेगा, तब तक उसे वही करना पड़ेगा, जो साम्यवाद और पूँजीवाद कर रहे हैं। लोकशाही को भी सारी-की-सारी सत्ता एक हाथ में रखनी पड़ेगी और उसमें भी पूरा-पूरा दारोमदार लश्कर पर ही रखना पड़ेगा। इस प्रकार दुष्टचक्र चलता ही रहेगा। आज सभी का अंतिम आधार सेना और शस्त्र है। इसमें से दुनिया को मुक्त करना है। ग्रामदान के ये दानपत्र हमारे विचार के लिए एक बहुत बड़ी शक्ति हैं। उसमें भारी 'पीस-पोटेन्शियल'—शांति की संभावना भरी है।

बापू की आत्मा टकटकी लगाये बैठी है

मुझे लगता है कि बापू की आत्मा टकटकी लगाकर बैठी है। उनकी आत्मा दुनिया के किस कोने में पड़ी है, इसका मुझे पता नहीं है। मुक्त पुरुषों की आत्मा ईश्वर में लीन हो जाती है। बापू की आत्मा भी ईश्वर में लीन हो गयी होगी, तो ईश्वर ही हमारे सामने टकटकी लगाकर बैठा है। यानी ईश्वर के अन्दर से बापू की आत्मा हमें देखती है। अगर वे ईश्वर में लीन न हुए हों और वासना के कारण और कहीं रहते हों, तब तो हमारी तरफ देख ही रहे हैं। मुझे सतत लगता है कि ईश्वर हमारे साथ है। वह चाहता है कि भारत विश्व को शांति की राह दिखाये।

हाँ, मुझे सत्ता अवश्य बदलनी है

इसके लिए लोक-शक्ति को जगाना है। 'हमारा भाग्य दूसरे के हाथ में' इस चीज पर मूल में ही प्रहार करना है। मुझसे किसीने पूछा कि "आप सत्तान्तर करना चाहते हैं?" मैंने कहा : "हाँ, अवश्य करना चाहता हूँ।"

स्वराज्य के पहले जो सत्ता थी, वह ऊपर-ऊपर की थी। दो-चार लाख अंग्रेज होंगे। वे इतनी दूर से आकर इतने विशाल

देश पर राज्य करते थे। इसलिए हमें सिर्फ जागने की ही देर थी। हमने 'क्विट इंडिया'–'भारत छोड़ो' कहा कि उन्हें जाना ही पड़ा। इस तरह देखा जाय, तो यह एक नकारात्मक आन्दोलन था, जब कि आज के आन्दोलन में लोकशक्ति का ही रूपांतर लोकसत्ता में करना है।

यह हमारा मुख्य विचार है। लोगों को समझाना है कि तुम्हारा नसीब तुम्हारे ही हाथ में है। सरकार की सत्ता को हम समाप्त ही करना चाहते हैं और उसकी जगह लोगों की अपनी सत्ता स्थापित करना चाहते हैं। इसे हमने कहा है 'लोकनीति'। इस ध्येय को नजर के सामने रखकर सातत्यपूर्वक काम करेंगे, तो जरूर पार पायेंगे।

मुझे विश्वास है कि गांधीजी ने सर्वोदय का जो कार्य-क्रम दिया था, उसकी नींव इस ग्रामदान-आन्दोलन से रखी जा रही है। इस नींव पर ही सर्वोदय की सारी इमारत खड़ी होगी। इसलिए गांधीजी को माननेवाले लोग इस काम में पूरी ताकत लगायें। हमें समझना चाहिए कि यह गांधी-विचार का प्राणकार्य चल रहा है। अहिंसा के आधार पर समाज-रचना होगी तो ही गांधी-विचार उन्नत रहेगा। ●

२०. संस्मरण

बापू के जाने के बाद सन् १९४८ में जब सेवाग्राम में गांधी-परिवार इकट्ठा हुआ, तब उनमें से बहुत चेहरे मेरे लिए नये थे। तब मैंने कहा था कि एक ही परिवार के सदस्य होते हुए भी कइयों के साथ पहली ही बार मिलना हो रहा है। लेकिन इसमें दोष आपका या मेरा नहीं, बल्कि उस मनुष्य का है, जिसका यह परिवार है। कारण, उसका परिवार ही इतना बड़ा और विशाल है। बापू का कुटुम्ब ही इतना बड़ा, इतना विशाल था कि सबको एक-दूसरे का परस्पर परिचय भी नहीं रहता था।

उनकी स्नेह दृष्टि दूर-दूर के सेवकों को भी ऊष्मा पहुँचाती रहती। उनमें प्रेम बहुत था और वह व्यक्तिगत परिचय में प्रकट होता था। जिनके परिचय में आते, उसके पूरे परिवार का हालचाल पूछते। परिवार के सब लोगों के नाम भी उन्हें याद रहते।

बापू तो पारसमणि-जैसे थे। उनके स्पर्श से लोहा स्वर्ण बनता था। उनके हाथ में ऐसी कीमिया थी, जिससे वे मिट्टी में से महापुरुष पैदा कर सकते थे, जंगली को सभ्य बना सकते थे, छोटे को बड़ा कर सकते थे।

मेरे जैसे असभ्य मनुष्य को सेवक बनाया

कुछ निमित्तों से मैं उनके पास पहुँच गया। उन्होंने मुझ जैसे असभ्य मनुष्य को सभ्य तो नहीं, लेकिन सेवक जरूर बना दिया। मेरे भीतर के क्रोध के ज्वालामुखी का और

दूसरी अनेक वासनाओं की वड़वाग्नि का शमन कर देनेवाले तो बापू ही थे। आज मैं जो कुछ हूँ, वह सब बापू की आशीष का चमत्कार है। बहुत-बहुत बातें मैंने बापू के चरणों में रहकर सीखी हैं।

बापू के पास पहले-पहल मैं आश्रम में गया, तब मुझे तो कुछ आता नहीं था। बापू भी जानते थे कि लड़का सद्भावना से आया है। पहले दिन उन्होंने साग ठीक करते हुए सिखाया और हमने खूब बातें कीं। बस, फिर किसी दिन काम के सिवा बोलना ही नहीं। बापू जो बातें करते, वह सुना करता। फिर एक दिन एक भाई के साथ बातें करते हुए बापू बोले: "यह तो गौण भाषा है।" तब मैंने कहा: "नहीं, यह भक्ति की भाषा है।" बापू ने कहा: "हाँ, यह बात ठीक। ज्ञान की भाषा और भक्ति की भाषा।" फिर सबको लगा कि यह कुछ है। इसके पूर्व सबका खयाल था कि यह एक जड़ जैसा है।

इसमें लोगों का भी कोई दोष नहीं। उस समय मैं बहुत रूक्ष मनुष्य था। बस, अपने काम में मगन रहता। किसीके साथ बातचीत भी न करता था। कोई आता तो पूछता: "कैसे आना हुआ?"

कई बार जवाब मिलता: "आपके दर्शन करने।"

बस, पूरा हुआ। बातचीत पूरी होती और मैं, मेरा जो कुछ काम चलता, उसे शुरू कर देता। अब आनेवाला क्या बोले? थोड़ी ही देर बाद बेचारे को चल देना पड़ता। मेरे मन में ऐसी धुन कि कोई बातचीत करने आये या मिलने आये तो उसके साथ कुछ बोला जाय। लेकिन लोग यदि यह कहते आयें कि दर्शन के लिए आये हैं, तो बात पूरी हुई, दर्शन कर लिये, फिर क्या?

उधर, दूसरी बाजू बापू जहाँ-तहाँ मेरा प्रचार करते, इतना ही नहीं, लोगों को मेरे पास भेजते। मेरे पवनार जाने के बाद तो सेवाग्राम में जो भी नेता या चिन्तक जाता, तो बापू उससे

पूछते कि आप विनोबा से मिल आये ? न मिले हों तो जरूर मिल लें।

एक दिन बापू ने एक भाई को मेरे पास भेजा। वे एक प्रख्यात क्रांतिकारी थे। बापू ने कहा था, इसलिए पैदल चलकर मेरे आश्रम तक आये थे। सेवाग्राम से पवनार-आश्रम तक तीन मील पैदल आने से वे थोड़ा थक गये थे। मैं जमीन खोद रहा था। नजर उठाकर देखता हूँ तो सामने ये भाई खड़े दीखे। मैंने पूछा : "कैसे आना हुआ ?"

"ऐसे ही, दर्शन करने आया हूँ।"

फिर क्या ? दूसरी कोई बातचीत नहीं हुई। कुछ ही देर में मेरे हाथ पुनः काम में लग गये। नजर काम पर चली गयी। व भाई खड़े रहे, पर कुछ बोले नहीं। वापस जाकर उन्होंने बापू से शिकायत की कि "आपने मुझे कैसे आदमी के पास भेज दिया ? मेरे साथ उन्होंने कोई बात तक नहीं की।"

प्रेमपूर्ण मीठे उलाहने से समझाते

बापू समझ गये। बोले : "आप गये, तब वे क्या करते थे ?"

"जमीन खोद रहे थे।"

"तो फिर इसमें नाराज होने की क्या बात है ? विनोबा अपना काम कर रहे थे। तब वे आपके साथ बोलते कैसे ? भलेमानुस, आपको पता नहीं कि किसीसे मिलने जाना हो, तो पहले से समय माँग लेना चाहिए।"

इस प्रकार बापू ने उनको तो समझा दिया। लेकिन बाद में जब मुझसे मिले, तो उस क्रांतिकारी भाई की बात याद करके मुझसे लड़े : "भले आदमी ! कोई आता है, तब उससे मिलना और उसके साथ बातचीत करना भी एक प्रकार का काम है। काम का यह भी एक प्रकार है।"

बापू की ऐसी ही टेव थी। वे प्रेम से और मीठे उलाहने से हमारी भूल समझाते। उनके हाथों ही मैं धीरे-धीरे गढ़ा

गया हूँ। उनके चरणों में बैठकर ही मैं असभ्य से सेवक बना हूँ।

संयमपूर्वक बोलने का शिक्षण मिला

मिसाल के तौर पर मेरे नसीब में सतत बोलना ठेठ बचपन से अब तक आया है। बचपन में विद्यार्थियों और मित्र-मंडल के आगे, फिर आश्रमवासियों के आगे और फिर जनता के आगे—इस तरह निरंतर बोलने का और चर्चा करने का काम मेरे नसीब में आया है। इस तरह स्वाभाविक रूप से जैसे बोला गया, बोलता रहा हूँ। लेकिन पहले बोलने पर बहुत अंकुश नहीं रखता था। मन में सहज जो आ जाता, वह बोल जाता था। मेरे मित्र जानते थे कि इस मनुष्य के अन्दर और बाहर ऐसे दो भेद नहीं हैं। इसलिए मैंने कितने ही प्रहार किये हों, तो भी कभी किसीका मन टूटा हो, ऐसा नहीं हुआ।

लेकिन बापू के संपर्क में आया, तब धीरे-धीरे वाणी पर अंकुश रखना चाहिए, ऐसा मैं मानने लगा। खासकर जब बापू ने कहा कि रोज की प्रार्थना में मुझे गीता के विषय में जो भी सूझे बोलना चाहिए, तब स्थिति कठिन हो गयी। कई बार तो मुझे बापू की हाजिरी में ही बोलना पड़ता। वे आश्रम में गरहाजिर होते तब तो मैं बोलता ही था, लेकिन बीच में पाँच-सात रोज के लिए आते, तब एकआध दिन वे बोलते और फिर मुझसे बोलने को कहते। बापू स्वयं श्रोताओं में बैठे हों, तब तो सब कुछ चन्द मिनटों में ही समाप्त करना होता था। इसलिए उस समय मेरा संयम का बहुत सुन्दर अभ्यास हुआ। कभी-कभी कुछ अधिक शब्द बोल जाता, तो कोई-न-कोई आश्रमवासी मेरी शिकायत बापू से कर बैठता था। पर बापू मुझसे कुछ कहते नहीं थे और उसके समक्ष मेरा बचाव करते। लेकिन पीछे से मुझे पता चलता कि बापू को मेरा बचाव करना पड़ा, तो लगता कि यह ठीक नहीं हुआ। इस तरह मुझे संयम

का बहुत शिक्षण मिला और संयमपूर्वक कैसे बोलना चाहिए, इस विषय में मैं उस्ताद हो गया।

बापू के पास जाने के बाद मैं नियमित प्रार्थना करने लगा। आज तक उसका सातत्य बना हुआ है। इससे मुझे बहुत लाभ हुआ है। प्रार्थना में अपने को भूलकर भगवान् में लीन हो जाना और जिनके साथ बैठना, उनके साथ एकता का अनुभव करना। नियमित प्रार्थना की यह आदत बापू के कारण ही पड़ी।

सेवा की लगन

बापू के साथ रहकर मुझे सेवा की लगन लगी। मैं सेवा को भगवान् की पूजा का साधन और जनता को अपना स्वामी मानता हूँ। स्वामी की सेवा बजाने से मेरी आत्मा को ठंडक मिलती है। आज अगर बापू होते तो अब भी मैं बाहर न आया होता और अपने सेवा-कार्यों में ही रचा-पचा रहता। आखिर में जब मैंने जेल छोड़ा, तब २० वर्ष तक भंगी-काम करने का निश्चय करके बाहर आया। क्योंकि २० वर्ष में नयी पीढ़ी तैयार हो जाती है। उस समय मेरा भंगी-काम अत्यन्त एकाग्रता से चल रहा था। भंगी-काम के साथ-साथ कुछ अन्य बातें भी सिखाता था। लड़के आकर कहते : "बाबा, आज हमने मैले पर मिट्टी डाली है न ?" फिर मैं वह देखने जाता। एक बार गाँव में गणपति-उत्सव था। उस दिन सारा गाँव सुन्दर चन्दन जैसा दीखने लगा। मेरे लिए कोई काम ही नहीं रह गया था, क्योंकि पहले दिन गाँववालों ने तय किया कि कल पवित्र दिन है, इसलिए भंगी-काम खुद ही करेंगे।

ऐसे सेवा-कार्यों में मैं मगन रहता। सेवा की यह लगन भी बापू के कारण लगी। यह सब याद करता हूँ तो बापू की मूर्ति आँखों के सामने खड़ी हो जाती है। उनसे मैंने कितना वात्सल्य पाया है! उनके आशीर्वाद मेरे माथे पर, भीतर, बाहर चारों ओर बरसे हैं। उन्होंने अत्यन्त प्रेमपूर्वक मुझे सँभाला है।

उनका बेहद वात्सल्य पाया है

सन् १९३८ की बात है। मेरा शरीर अत्यन्त क्षीण हो गया था। वजन ८८ पौण्ड तक नीचे आ गया। ईश्वर के पास जाने की घड़ी आ रही है, ऐसा लग रहा था। इसलिए मेरा मन प्रसन्न था, लेकिन मित्रों को दुःख होता था। बापू के पास फरियाद गयी। मुझ पर 'समन' आया। मैं गया। बापू बोले : "मेरे पास रहो, मैं चाकरी करूँगा।"

"आपकी चाकरी पर मुझे जरा भी विश्वास नहीं है। आपको पचास काम हैं। उनमें से एक काम चाकरी का। और उसमें भी पचास रोगी। उनमें से एक मैं। इससे क्या भला होगा ?"

बापू हँसने लगे : "ठीक, डॉक्टर के पास जाओ।"

"उसकी अपेक्षा तो यमराज के पास जाना ज्यादा ठीक।"

"हवाफेर के लिए जाओ।" और फिर अलग-अलग स्थान बताने लगे। उत्साहपूर्वक एक-एक का वर्णन करते गये।

आखिर मैंने कबूल किया : "पवनार में जमनालालजी का बँगला खाली पड़ा है, वहाँ जाकर रहूँगा।"

कहने लगे : "हाँ, ठीक है। गरीब हवाखोरी के बड़े स्थानों पर कहाँ जा सकते हैं ?" (पहले यह बात भूल ही गये थे।) "लेकिन पवनार में तुम्हें सारा चिन्तन बन्द करना पड़ेगा। सारे विचार छोड़ देने होंगे। आश्रम, काम अथवा दूसरे किसी भी विषय का विचार नहीं करना है।"

"जी हाँ, ऐसा ही करूँगा।"

मेरा स्वास्थ्य इतना अधिक कमजोर था कि पैदल चलकर भी जाना कठिन था। इसलिए मैं मोटर से रवाना हुआ। बापू के पास कबूल किया था, इसलिए पवनार जाते हुए नदी पार करते-करते ही **'संन्यस्तं मया, संन्यस्तं मया, संन्यस्तं मया'**

(मैंने छोड़ा, मैंने छोड़ा, मैंने छोड़ा) इस तरह तीन वार कहा। उस समय मैंने शून्य का अभ्यास किया। घंटों तक शून्यावस्था में रहता। पौष्टिक आहार लेता। दूध का परिमाण वढ़ा दिया। चित्त में किसी प्रकार का चिन्तन ही नहीं था। कोई विचार ही नहीं, ऐसी शून्य स्थिति में शांत-प्रसन्न चित्त से सारा समय विताता। परिणामस्वरूप मेरा वजन दस महीने में ८८ पौंड से वढ़कर १२८ पौंड हो गया। इसके मूल में भी वापू की वात्सल्य-भरी आज्ञा थी।

उनकी आज्ञा मेरे लिए सदा शिरोधार्य थी

वापू के साथ जुड़े हुए ऐसे अनेक संस्मरण याद आते हैं। उनके पास पहुँचा, तव से अंत तक उनके चरणों में रहकर सेवा करने की भगवान् ने मुझे वुद्धि दी। आज उनके जाने के वाद भी मुझे दूसरा कुछ नहीं सूझता। मेरा सम्पूर्ण जीवन उनके चरणों में समर्पित रहा है। उनकी आज्ञा सदा शिरोधार्य थी।

सन् १९४० में एक सुन्दर सवेरे वापू की ओर से कहलाया गया कि "मिल जाओ।" मैं उनकी सेवा में हाजिर हो गया। वापू कहने लगे : "इस समय तुम्हारी सेवा की मुझे जरूरत है। लेकिन तुम खाली हो या नहीं, पता नहीं। क्योंकि तुम निरंतर किसी-न-किसी काम में लगे रहते हो। लेकिन अव हमें व्यक्तिगत सत्याग्रह करना है। मैं चाहता हूँ कि तुम अगर खास कठिनाई के विना काम से फारिग हो सको, तो प्रथम व्यक्तिगत सत्याग्रही के तौर पर तैयार हो जाओ।"

मैंने कहा : "आपका आदेश और यमराज का आदेश मेरे लिए समान है। अव मुझे वापस पवनार जाने की जरूरत नहीं है। सीधे यहीं से इस काम के लिए जा सकता हूँ।" मैंने ऐसा कहा तो वापू को वहुत अच्छा लगा। फिर मैं व्यक्तिगत सत्याग्रही के रूप में निकल पड़ा और जेल चला गया।

उन्होंने ही सबको मेरे बारे में समझा दिया

मुझे याद है कि उस वक्त मैं जेल से छुटकर आया और बापू से मिला, तब उन्होंने कहा : "विनोबा, यह अंतिम बार की जेल-यात्रा नहीं है, हाँ! पुनः जाना पड़ेगा।"

मैंने कहा : "जी हाँ, तैयार हूँ।"

फिर बात चली। मुझसे पूछते हैं : "जेल से क्या कुछ नया सोचकर लाये हो?"

"जी, सोच लाया हूँ। मुझे सारी संस्थाओं से मुक्त होना है। उसके बिना अहिंसा में मेरी आगे गति नहीं होती।"

तुरत बोले : "बहुत ठीक कहा।" फिर उन्होंने अपनी मौलिक भाषा में मेरी बात का तरजुमा किया : "यानी तुम सब संस्थाओं की सेवा करोगे, लेकिन पदाधिकार नहीं स्वीकारोगे।"

फिर बापू ने आशादेवी से कहा : "अच्छा है, विनोबा मुक्त हो जाय। यदि तमाम उपाधियों से मुक्त होकर चिन्तन हो, तो परिणाम अच्छा आता है। उपाधियाँ सिर पर ओढ़कर चिन्तन करते हैं, तो वह चिन्तन मुक्त नहीं होता। परिणाम में इस तरह किसी नयी चीज की शोध नहीं होती।"

बापू की मुहर लग गयी, इसलिए बाद में किसीकी बहुत चली नहीं। बापू ने ही सब संस्थावालों को मेरी तरफ से समझा दिया।

वे बालक से भी सीखने को तैयार रहते

बापू में अनेक गुण थे। लेकिन मुख्य गुण—सबसे शिरोमणिगुण मैंने उनमें यह देखा कि वे सत्याग्रही थे। वे हमेशा प्रगतिशील थे, गतिमान् थे और नित्य नया सीखने की उनकी

तैयारी रहती थी। वे मार्गदर्शक नेता माने जाते थे, फिर भी दिमाग हमेशा खुला रखते थे। सत्याग्रही तो वे थे ही, सत्यग्राही भी थे। मनु ने कहा है: **सुभाषितं बालादपि ग्राह्यम्**–अच्छी बात बालक से भी ग्रहण करो। यह मैंने उनमें देखा।

पहले की बात है। सावली में गांधी सेवा संघ का अधिवेशन था। बापू ने कभी संतति-नियमन के सिलसिले में किसीके साथ चर्चा की थी, उसमें 'रिधम सिस्टम' को उन्होंने कुछ मान्यता दी थी, ऐसा अखबार में पढ़ा। मुझे वह ठीक नहीं लगा। इसलिए बापू से मैंने सावली में चर्चा की। घंटा-सवा घंटा हमारी चर्चा चली और मैंने अपना विचार बापू के समक्ष रखा। अन्त में उन्होंने यह मान्य किया और कहा कि मैं आज की सभा में यह विचार रखूँ। मैंने कहा कि मैं नहीं रखूँगा, यह तो आपको ही रखना पड़ेगा। बाद में उन्होंने खुद ही वह विचार पेश किया। 'रिधम सिस्टम' को उन्होंने जो थोड़ी-बहुत स्वीकृति दी थी, वह भी वापस ले ली। यह मिसाल इसलिए दी कि एक तुच्छ मनुष्य के विचार को भी वे ग्रहण करने को तैयार रहते थे।

...तो बापू पर का प्रहार मुझ पर ही होता

इस तरह बापू का प्रेम और विश्वास मैंने बहुत पाया है। मैंने भी अपना सर्वस्व उनके चरणों में समर्पित किया था। बापू थे, तब तक मैं निश्चिन्त होकर अपने प्रयोग करता। लेकिन अब सोचता हूँ कि कुछ बरस पहले बाहर निकला होता, तो बापू की जिन्दगी जिस आग में होम हो गयी, उस आग को बुझाना तो शायद न भी बनता, लेकिन बापू के पहले स्वयं होम हो जाने का सन्तोष तो मुझे मिला होता। बापू पर गोली चलने के बाद मुझे ऐसा भास रहा है कि मैं पाँच-दस वर्ष पहले आगे आया होता, तो सम्भव है कि कोई मदद होती। कुछ नहीं तो १९४५ में जेल से छूटने के बाद यदि मैं बापू के पास व्यापक काम

में आ गया होता, तो मुझे ऐसा लगता है कि बापू के ऊपर का प्रहार मैं अपने ऊपर ले पाता।

बापू के रहने तक मैं अपने कामों में मस्त रहा, क्योंकि बापू और उनके साथी ठीक ही करते हैं, ऐसा मैं मानता था। अंत में बापू के साथियों और बापू के बीच मतभेद हुए और बापू अंतिम घड़ी तक कहते रहे कि हिन्दुस्तान के दो टुकड़े नहीं होने चाहिए। लेकिन यहाँ तो दो टुकड़े हो चुके थे। दिल्ली में प्रस्ताव हो चुका था। फिर भी बापू व्याख्यान में यही बात कहते थे। बाद में बापू ने एक प्रकार की कमजोरी का अनुभव किया कि अब यह बात हाथ से निकल गयी। फिर इससे बिगड़ी हुई स्थिति को जितना सुधारा जा सके, उतनी सुधारने का उन्होंने प्रयत्न किया। तब महाराष्ट्र, पंजाब, बंगाल और दूसरे प्रांतों में जो कुछ हुआ, उसे देखकर मुझे लगा कि मैं यदि उस वक्त आगे आया होता तो—मेरे आने का परिणाम होता या नहीं, यह तो भगवान् जाने—मैंने अपना कर्तव्य पूरा किया होता। मैं यदि बीच में आया होता तो कुछ विशेष न कर सकता, तो भी बापू की मृत्यु के पहले, मेरी मृत्यु हो सकती थी। ऐसा हुआ होता तो मुझे अधिक समाधान होता और बापू जिस तरह गये, वही गति मुझे भी मिलती।

क्या विनोबा भी रोये ?

जो कुछ होता है, सब भगवान् की योजना के अनुसार ही होता है। दुर्भाग्य की बात है कि एक सिरफिरे आदमी ने उनकी हत्या की। इस घटना के दो घंटे बाद पवनार में मुझे खबर मिली। दो-तीन दिन तक तो मेरा चित्त शांत रहा। मेरी ऐसी आदत है कि किसी भी बात का मुझ पर एकदम असर नहीं होता। ऐसा ही इस घटना का हुआ। लेकिन दो-तीन दिन बाद असर होने लगा और चित्त में व्याकुलता भी आयी। उन दिनों रोज प्रार्थना में मुझे बोलना पड़ता था। सेवाग्राम-

आश्रम में एक दिन प्रार्थना-भूमि पर जव मैं वोलने लगा, तो मेरी आँखों से आँसू वहने लगे। किसी भाई ने पूछा : "क्या विनोबा भी रोये ?" मैंने कहा : "हाँ भाई, मुझे भी हृदय मिला है। यह भगवान् का उपकार है।"

लेकिन मेरी आँखों में जो आँसू आये, वे वापू की मृत्यु के लिए नहीं। क्योंकि मैं मानता हूँ कि उनकी मृत्यु तो ठीक वैसी ही हुई, जैसी किसी भी महापुरुष की हो सकती है। फिर, उनकी मृत्यु की जैसी वासना थी, ठीक वैसी ही मृत्यु उन्हें मिली। पर मुझे दुःख इस वात का था कि अपने भाइयों की इस हत्याकारी मनोवृत्ति को मैं रोक नहीं सका—यहाँ तक कि पवनार गाँव में से भी कइयों को आर० एस० एस० के सन्दर्भ में गिरफ्तार किया गया। वे अपराधी ही होंगे, ऐसा मैं नहीं मानता। फिर भी, भावार्थ यह है कि जिस गाँव में मैं दस वर्ष से रहता था, वहाँ के लोगों के हृदय तक मैं नहीं पहुँच सका और इसी वात का मुझे वहुत दुःख हुआ।

आँख बन्द की कि बापू मिले ही समझो !

खैर, वापू की मृत्यु के समाचार सुनते ही मेरे मन में ऐसा लगा कि वापू अमर हो गये और तव से आज की घड़ी तक मेरी सतत यही भावना रही है। वापू देह में थे, तव उनसे मिलने के लिए जाने में कुछ-न-कुछ समय लगता ही था। लेकिन अव तो उनकी मुलाकात में एक पल की भी देर नहीं लगती। आँख वन्द की कि मुलाकात हुई समझो ! जव वापू जीवित थे, तव तो मैंने उनके कामों में अपने को गड़ा दिया था और कभी-कभी ही मैं उनके साथ वात करता। अव तो वारंवार उनसे वात करता हूँ और अनुभव करता हूँ कि वे मेरे अगल-वगल हैं।

जव वापू हाजिर थे, तव मुझमें जो प्रेरणा थी, वह आज घट गयी है, ऐसा नहीं लगता। ऐसा कुछ भी प्रतीत नहीं होता कि उत्साह कम हो गया है, निराशा आ गयी है, कुछ ढीलापन

अनुभव होता है। बापू थे, तब मेरा क्षेत्र सीमित था, कार्य तीव्र था। आज क्षेत्र व्यापक हो गया है, फिर भी मानसिक तीव्रता तो उतनी ही देखता हूँ, शायद वढ़ी ही हो।

उनकी आत्मा हमें निहार रही होगी

पता नहीं, बापू की आत्मा मुक्त हो गयी होगी या वासना शेप रह गयी होगी। यह विषय मेरी कल्पना-शक्ति के वाहर का ह। वहुत सम्भव है कि उन्होंने अंतिम घड़ी में राम-नाम लिया था, इसलिए वे अपनी सव कामनाओं से मुक्त हो गये होंगे। अगर न हुए हों, तो उनकी आत्मा हमें निहार रही होगी। विश्व के किसी भी कोने में, जहाँ-जहाँ अहिंसा के वारे में थोड़ा भी विचार होता है और अहिंसा के प्रयोग होते हैं, वहाँ-वहाँ बापू हाजिर रहकर सव निहारते होंगे।

हमारे यहाँ श्राद्ध किया जाता ह, तर्पण किया जाता है। एक होता है पितृ-तर्पण, दूसरा होता ह ऋपि-तर्पण। जिनसे हमें शरीर मिला, उनका भी हम श्राद्ध करते हैं, और जिनसे विचार मिले, ज्ञान मिला, भक्ति की प्रेरणा मिली, ऐसे ऋषियों का भी श्राद्ध करते हैं। बापू हमारे लिए पिता भी थे और ऋषि भी। हम उन्हें राष्ट्रपिता कहते हैं और उन्होंने हमें सत्याग्रह-दर्शन और सर्वोदय-धर्म सिखाया, इसलिए वे गुरु और ऋषि के स्थान पर थे। पिता का काम लड़कों को आगे बढ़ाना होता है। गुरु का शिक्षण भी आगे बढ़ाने का होता है। उन्होंने तो विश्वव्यापक काम किया, उसे निरंतर आगे वढ़ाते रहेंगे, तो वह पितृतर्पण होगा और उनकी विचारधारा का चिन्तन-मनन करते रहेंगे, तो वह ऋषि-तर्पण होगा।

मेरी अंतरात्मा गवाही देती है कि बापू ने जो अहिंसा का, प्रेम का मार्ग दिखाया है, उस पर चलने की मैंने पूरी-पूरी कोशिश की है। मैंने प्रयत्नों की पराकाष्ठा कर दी। एक क्षण भी ऐसा याद नहीं कि मैं असावधान रहा हूँ। वापू के जाने

के वाद मैं वापू का ही काम कर रहा हूँ, इसमें मुझे रत्तीभर शंका नहीं है। इस काम से मेरे हृदय में अपार आनन्द होता है और उसमें मैं वापू को निरंतर अपने साथ देखता हूँ। मैं मानता हूँ कि मेरे चिन्तन में वापू का साररूप अंश है। बापू के समय की अपेक्षा बहुत अधिक आज मैं उनके सान्निध्य में हूँ। उन्होंने जो कुछ कहा है, उस सम्वन्ध में चिन्तन करने में आज मुझे उनकी ओर से जितनी मदद मिलती है, उतनी और किसीसे नहीं मिलती।

वापू हम सवके हृदय में विराजमान हैं। अव वे हमारे हृदय में भगवान् का स्थान ले चुके हैं। भक्त और भगवान् एक हो गये हैं। जव वे जीवित थे, तव भगवान् से अलग रहकर सेवा-कार्य करते थे। अव प्रयाण के वाद वे भगवान् में मिल गये हैं और हमारे काम को आशीर्वाद दे रहे हैं।

सन्त सदा शीश ऊपर

यों तो एक परमेश्वर की ही हस्ती है, दूसरी कोई हस्ती नहीं। एक परमेश्वर का नाम हम लेते हैं, फिर उसके साथ दूसरा कोई नाम लेने को नहीं रहता। लेकिन परमेश्वर ने इतना व्यापक स्वरूप धारण कर रखा है कि उसके अन्दर असंख्य सत्पुरुष समाये हुए हैं—जैसे दाड़िम (अनार) के फल में असंख्य दाने होते हैं। हमारे भक्तिपूर्ण हृदय को भास होता है कि संतों का भी अपना मौलिक (स्वतंत्र) स्थान होता है।

मारग में तारण मिले, संत राम दोई।
संत सदा शीश ऊपर, राम हृदय होई॥

ऐसे एक सन्त पुरुष को हमने देखा और उसके साथ काम करने का हमें अवसर मिला, यह हमारा वड़ा भाग्य है। जितना वन पड़े, उतना इसका अनुसरण करने की हम कोशिश करें और आत्म-निरीक्षण, परीक्षण करके चित्त-शुद्धिपूर्वक भगवान् की शरण में जायँ। ●

२१. 'हे राम !'

बहुत पहले की बात है। जमनालालजी की पुत्री मदालसा तब छोटी थी। एक बार मेरे पास आकर झगड़ने लगी कि "आपने गांधीजी का चित्र बनाया था, वह मिटा क्यों दिया ?"

मैंने कहा : "अरे, यह तो पट्टी पर बनाया हुआ चित्र था। और यह कोई गांधीजी का चित्र बनाने के लिए थोड़े ही बनाया था। वह छोटा बालक जिद करता था कि आदमी का चित्र बनाओ और आदमी कहते ही मेरे सामने गांधीजी खड़े हो जाते हैं। इसलिए मैंने तो आदमी का चित्र बनाया था।"

नरसी मेहता के 'वैष्णवजन' भजन में आदर्श मनुष्य की व्याख्या दी गयी है। यह भजन गांधीजी को अति प्रिय था। यह भजन उन्होंने अपने जीवन में आचरण करके बताया। अपने जीवन द्वारा ही उन्होंने इस भजन का भाष्य रचा है।

इस भजन में जिस वैष्णवजन की व्याख्या की गयी है, वह एक शैव की भी है, एक ईसाई की भी है, मुस्लिम की है और बौद्ध की भी है। दूसरे के दुःख उससे सहे नहीं जाते। वह निरंतर उपकार करता रहता है। यह 'उपकार' शब्द बहुत सुन्दर है। आज उसमें अहंकार की थोड़ी छटा आ गयी है, लेकिन मूल में यह बहुत ही नम्र शब्द है। इसका अर्थ होता है, काया, वाचा, मन से दूसरे को मदद पहुँचाना, उसका संकट निवारण करना। अल्प-सा उपकार करेंगे यानी मर मिटेंगे। फिर भी वह उप-'कार' गौण मदद होगी। मुख्य कार्य तो भगवान् ही करेगा। हम थोड़ी-सी सेवा करेंगे। उप यानी अल्प, कार यानी मदद। थोड़ी-सी मदद करेंगे, तो उसका भी चित्त पर

अहंकार चढ़ सकता है। इसलिए नरसी महेता ने कह दिया कि '**मन अभिमान न आणे रे।**'

उत्तम पूर्णाहुति

हम देखते हैं कि यह भजन गांधीजी के जीवन में मूर्तिमंत हो गया था। इस पवित्र जीवन के स्मरण से आँखें गीली हो जाती हैं। धन्य हैं हम लोग, जिन्हें उनके साथ काम और सेवा करने का मौका मिला। फिर, उनकी मृत्यु भी किन परिस्थितियों में हुई। प्रार्थना की तैयारी में थे, यानी उस समय उनके मन में ईश्वर के सिवा दूसरा कोई विचार नहीं था। उनका सम्पूर्ण जीवन सेवामय और परोपकारी था, यह हमने देखा है। लेकिन इसमें भी प्रार्थना की भावना और प्रार्थना का समय अधिक पवित्र समझना चाहिए। ऐसे प्रार्थना के समय उन्हें मुक्त करने के लिए मानो परमेश्वर ने उसे (हत्यारे को) भेजा। सरदार वल्लभभाई ने कहा था कि मृत्यु के समय गांधीजी के चेहरे पर अपना काम करते-करते मृत्य आयी, इसका आंतरिक आनंद और निमित्त बने हुए अपराधी के प्रति दया और क्षमा-वृत्ति, ऐसा दोहरा भाव दीखता था।

मुझे लगता है कि गांधीजी के जीवन की यह उत्तम पूर्णाहुति है। सर्वोत्तम विचार करते-करते देह छोड़ना, यह सबसे बड़ा पुण्य है। जिसने जीवनभर धर्म का पालन करने का प्रयत्न किया, वह अपना दिनभर का काम पूरा करके प्रार्थना के लिए जाता है, साथ में मित्र हैं, सबको प्रार्थना के लिए बुलाता है और उसी क्षण उसका अंत होता है—ऐसा मरण अत्यन्त पवित्र है।

हत्यारे का हाथ कैसे उठा ?

एक भाई ने मुझसे पूछा : "गांधीजी जैसे पवित्र पुरुष के ऊपर हत्यारे का हाथ कैसे उठा होगा ?" यह एक सोचने-जैसी

बात है। मैंने कहा : "गांधीजी एक व्यक्ति कहाँ रहे थे ? वे हम सबका भार उठाते थे। हम सबका जीवन मलिन था, इसलिए उनकी हत्या हुई। वे एक व्यक्ति होते, हमारी जवाबदारी उन्होंने न उठायी होती, तो बात अलग थी। लेकिन वे हम सबकी जवाबदारी उठाकर अंत तक उसे निभाते रहे, इसलिए इस हत्या की जवाबदारी हमारी है।"

दूसरे एक भाई ने मुझसे पूछा था कि गीता में भक्त के जो लक्षण गिनाये गये हैं, उनमें **यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः** अर्थात् जिससे लोगों को उद्वेग नहीं होता और जो लोगों से उद्विग्न नहीं होता, ऐसा दोहरा लक्षण बताया है। यह बात गांधीजी पर किस तरह लागू होती है ?

मैंने उस भाई से कहा : "गांधीजी अगर केवल भक्त होते, तो ऐसा सवाल पैदा न होता। उदाहरणार्थ, नरसी महेता परमेश्वर के भक्त थे, लेकिन जनता के प्रतिनिधि नहीं। वे लोगों के पाप-पुण्य का कोई भार नहीं उठाते थे। लोगों के पाप से पापी और पुण्य से पुण्यवान् होनेवाले और लोगों के दुःख से दुःखी और सुख से सुखी होनेवाले का उदाहरण तो ईसामसीह का मिलता है। जो स्वयंभू लोक-प्रतिनिधि बने हैं, जिनका अपना निजी कोई अस्तित्व नहीं, ऐसे मनुष्य थे वे। इसलिए हम सबके कुल मिलाकर जो पाप-पुण्य थे, वे सब गांधीजी के थे। लोग आज भी उनको याद करते हैं, क्योंकि वे एक व्यक्ति नहीं रहे, समस्त राष्ट्र की भावना के प्रतिनिधि बन गये थे। उनकी वाणी में और उनके चिन्तन में लोक-वाणी और लोक-चिंतन प्रकट हुआ था। इसलिए उनका द्वेष करनेवाला कोई कैसे निकल गया, इसका उत्तर उनको नहीं देना है, बल्कि यह उत्तर तो हमें देना है। उनके लिए तो जीवन परिपूर्ण सार्थक हो गया।

अन्तिम दिनों में तो कृष्ण-लीला ही थी

कइयों का ऐसा खयाल है कि अंतिम दिनों में गांधीजी के दिल में खूब वेदना थी। लेकिन वह भीतरी नहीं थी। वह हमारे लिए थी और हमारे कारण थी। उन्हें अंत में जो सहन करना पड़ा, वह सब सहन किया, लेकिन यह समझना बिलकुल गैर-समझी का होगा कि उनकी कोई वासना रह गयी है। वे वासनाओं को पार कर गये थे और अंत में उनकी लीला चलती थी। आखिरी दिनों में तो मानो कृष्ण-लीला ही थी। इन दिनों का असली रहस्य समझाने के लिए तो गांधीजी को स्वयं ही आना पड़ेगा। भगवान् कृष्ण के जीवन में भी, आखिर में, बाह्य जीवन में वेदना थी। यादव-कुल में आपस-आपस में जो चल रहा था, उसके कारण यह वेदना थी। तो, जो चित्र श्रीकृष्ण के प्रयाण-समय में यादव-कुल का था, वही चित्र भारत का गांधीजी के प्रयाण के समय में था। भगवान् की जो गति थी, वही गांधीजी की थी।

अन्त राम कहुँ आवत नाहीं

अंतिम घड़ी में उन्होंने क्या किया ? जब उनको गोली मारी गयी, तब पहला काम उन्होंने यह किया कि अपने दोनों हाथ जोड़ दिये—प्रणाम ! और अत्यन्त सहज भाव से उन्होंने भगवान् का नाम लिया : हे राम ! बस, समाप्त ! तुलसीदासजी ने गाया है—**जनम जनम मुनि जतन कराहीं, अन्त राम कहुँ आवत नाहीं।** अनेक जन्मों तक प्रयत्न करते रहते हैं, फिर भी अंतकाल में राम-नाम मुख पर नहीं आता। जनम-जनम तक कोशिश करने पर भी अंतिम घड़ी में राम का स्मरण हो, ऐसा होता नहीं। जब कि गांधीजी की जिह्वा से आखिरी शब्द निकला, तो यह

निकला : हे राम ! बस, अंत में 'हे राम !' कहकर वे गये। कोई भी भक्त इससे अधिक और क्या कर सकता है ?

गांधीजी ने यह जो राम का नाम लिया, वह राम कौन है ? यह वह राम है, जिसका नाम दशरथ ने अपने बेटे का रखा था। परशुराम, बलराम, रामभाऊ के पिताओं ने भी अपने लड़कों के लिए उसीका नाम रखा। दशरथ के राम बड़े अवतारी पुरुष हो गये। लेकिन यह जो रामनाम है, वह तो दशरथ के राम से भी प्राचीन है। यह राम-नामवाला 'राम' तो सबके हृदय में रममाण करनेवाला परमेश्वर है, और इसी राम का नाम गांधीजी ने लिया।

आखिर का अन्तर एक क्षण में टूट जाता है

अंतकाल में कोई-न-कोई चीज बीच में आड़े आकर खड़ी हो जाती है। लेकिन गांधीजी और परमेश्वर के बीच कोई चीज आड़े नहीं आयी। वे तो अंत तक कहते थे कि "मैं अभी सत्य से बहुत दूर हूँ।" मनुष्य अपने प्रयत्न में हमेशा आगे बढ़ता जायगा, फिर भी अपने ध्येय से दूर रहेगा। लेकिन एक क्षण ऐसा आता है, जब भगवान् एकदम ऊपर उठा लेता है। जहाँ मनुष्य पहुँचा है और जहाँ उसे पहुँचना है, इन दोनों के बीच का अंतर काटने का काम, जब वह क्षण आयेगा, तब भगवान् करेगा।

गांधीजी को सतत ऐसा भास था कि अभी जाना है, आगे जाना है, वह अभी दूर है। लेकिन वह जो अंतर था, उसे भगवान् ने आखिर में तोड़ डाला। अगर अंतस् में भगवद्-भक्ति हो, तो अंतिम क्षण में यह अन्तर भगवान् के हाथों टूट जाता है। गांधीजी का यह अंतर भी अंतिम क्षण में एकदम टूट गया।

ऐसे लोग बाहर से एक काम करते हैं, लेकिन भीतर एक दूसरी धारा चलती है। गांधीजी की भी आंतरिक धारा ईश्वर

के साथ जुड़ी हुई थी। यों तो वे निरंतर सेवा में रत थे, लेकिन हमेशा कहा करते थे कि "हमें सेवा करके ही छुटकारा है।" यह जो 'छुटकारा' शब्द है, वही गांधीजी हैं। ऐसा ही उनका दूसरा शब्द है, 'लगन'। भीतर से लगन लगनी चाहिए। ऐसी लगन उनमें थी। इसी कारण अंत में जो अंतर था, वह भगवान् के हाथों टूट गया।

इसीको 'क्रांति' कहते हैं। विकास करते-करते एक क्षण ऐसा आता है, जब क्रांति हो जाती है। जब तक यह क्षण नहीं आया, तब तक भगवान् दूर-दूर रहेगा और अंतर कायम रहेगा। प्रयत्न हमेशा चालू रखना पड़ेगा। उसके बिना प्रयत्नवाद और भक्ति खंडित होगी। भास कायम रहेगा कि अभी अंतर बाकी है, लेकिन परमात्म-पुञ्ज पूरा-पूरा जब प्रकट होगा, तब यह अन्तर एक क्षण में टूट जायगा। इस तरह गांधीजी अन्त समय में भगवान् का स्मरण करके गये और उनकी ज्योति परमात्मा में मिल गयी। एक पवित्र आत्मा परमात्मा में लीन हो गयी।

व्यापक अवस्था में से विशिष्ट मनुष्य को प्रेरित करेंगे

उस दिन गांधीजी की मृत्यु के समाचार सुनते ही मुझे परमात्मा का स्मरण हो आया और इसी स्मरण में मैं उस दिन डूबा रहा। दूसरे दिन धीरे-धीरे खयाल में आने लगा कि इस विराट् सृष्टि में असंख्य घटनाएँ घटती हैं, उसमें मानव-समाज की एकाध घटना का कोई खास असर नहीं पड़ता, लेकिन मनुष्य को अपने बारे में एक ख्याल होता है और उसकी एक अपनी मौलिक सृष्टि होती है।

तो, मैं सोचने लगा कि गांधीजी गये, उसका हमारे जीवन पर क्या असर होगा? महापुरुष जब शरीर में बसते हैं, तब उनकी निरंतर यह कोशिश चलती रहती है कि शरीर से मुक्त होकर सबके साथ एकरस होकर मिल जायँ। जैसे शक्कर

दूध में मिलकर दूध का स्वाद बढ़ा देती है, उसमें घुल जाती है, वैसे ही समाज-जीवन का स्वाद बढ़ाने के लिए महापुरुषों का उसमें लीन हो जाने का प्रयत्न चलता रहता है। शरीर में रहते हैं, तब वे विशिष्ट होते हैं और व्यापक बनने की कोशिश करते रहते हैं। लेकिन शरीर छोड़ने पर व्यापक तो बन ही गये होते हैं, बाद में विशिष्ट बनने की कोशिश करते रहते हैं; अपनी व्यापक अवस्था में से विशिष्ट मनुष्य को प्रेरित करके उसके पीछे अपना बल लगाकर वे महान् संकल्प पूरा करवाना चाहते हैं। ऐसा मुझे अनुभव हुआ ह।

आत्मा की व्यापकता का साक्षात्कार

गांधीजी के श्राद्ध-दिन पर पवनार में धाम-नदी में उनका अस्थिविसर्जन किया गया। उस दिन धाम-नदी के किनारे जो दृश्य देखा, वह किसी नये जन्म का ही दृश्य था। ईशावास्य-उपनिषद् बोलते समय मुझे जो अनुभव हुआ, उसका शब्दों में वर्णन करने में मैं असमर्थ हूँ। ज्ञानी पुरुषों ने हमें आत्मा की व्यापकता का बोध दिया है। हमारी इस पर श्रद्धा बैठती है सही, लेकिन उस दिन उसका साक्षात्कार हुआ।

समझने की बात ह कि जव महापुरुष अपनी देह में होते हैं, तव उनकी शक्ति सीमित होती है, और जब वे देह-मुक्त हो जाते हैं, तब उनकी शक्ति असीम हो जाती है। गांधीजी की देह-मुक्ति भी हममें शक्ति-संचार कर रही है। जो विचार गांधीजी के हृदय में रहते थे और जिनका प्रसार देह के बंधन के कारण मर्यादित था, वे विचार अब आपके और मेरे हृदय में प्रवेश करते हैं।

मैं थोड़े ही शान्त होनेवाला हूँ

नरहरिभाई ने गांधीजी का 'गीता-शिक्षण' तैयार किया है। उसे मैं दो बार पढ़ गया, उसमें का एक वाक्य मैंने अपनी

गीता की पुस्तक में लिख रखा है। यह विषय ऐसा है कि स्व-प्रयत्न से मनुष्य जब अपने उद्धार के लिए प्रयत्न करता है, तब उसे खूब परिश्रम करना पड़ता है। उसके अन्त में वह योगारूढ़ होता है, योग पर उसका काबू हो जाता है; तब वह शान्त हो जाता है। लेकिन वह शान्त होता है, इससे वह निष्क्रिय नहीं बन जाता, उसका प्रभाव जाता नहीं रहता, बल्कि उसकी वह शांति तो किसी कर्म की अपेक्षा अधिक बलवान् होती है। गीता के छठे अध्याय के आरम्भ में ही इसकी चर्चा आती है। उस पर गांधीजी ने जो कहा है, उसे मैंने अपनी गीता में लिख लिया है। गांधीजी ने कहा है :

> "सवेरे के पहर में सूर्य-नारायण अपना उद्धार करता है,
> योगारूढ़ होकर आता है;
> "और सन्ध्या के समय शान्त होता है।
> "सूर्य सचमुच शान्त होता है ?
> "मैं मरूँगा, तब भी थोड़े ही शान्त होनेवाला हूँ ?"

"मैं मरूँगा, तब भी थोड़े ही शान्त होनेवाला हूँ ?"—खूब सारगर्भित वाक्य है।



गांधी-विचार-साहित्य

गांधी-शताब्दी सर्वोदय-साहित्य	सेट (१)	५.००
गांधी-शताब्दी सर्वोदय-साहित्य	सेट (२)	७.००
महादेवभाई की डायरी (खण्ड १ से १०)	प्रत्येक	८.००
Day to day with Gandhi (1-7)	@	15.00
Day to day with Gandhi Library Ed.	@	20.00
गांधीजी और राष्ट्रीय प्रवृत्तियाँ	–शंकरलाल बेंकर	१०.००
गांधीजी के संस्मरण	–शांतिकुमार	३.५०
शिक्षा में अहिंसक क्रांति	–गांधीजी	१.००
बापू की गोद में	–नारायण देसाई	२.५०
बापू की मीठी-मीठी बातें १-२	साने गुरुजी प्रत्येक	१.५०
बापू के चरणों में	–विनोबा	१.२५
युगपुरुष गांधी	–रामनारायण उपाध्याय	१.५०
प्यारे बापू	–एलेनी सेमियो	१.००
गांधी पुण्य-स्मरण	–दादा धर्माधिकारी	०.७५
गांधी : एक सामाजिक क्रांतिकारी	–विल्फ्रेड वेलॉक	०.३७
गांधी एक राजनैतिक अध्ययन	–कृपालानी	०.७५
बापू के जीवन में प्रेम और श्रद्धा	–मनु गांधी	०.३५
विश्वात्मा महात्मा (नृत्य-नाटिका)	–नारायण देसाई	०.४०
आत्मकथा (संक्षिप्त) १८६९-१९२०	–गांधीजी	१.००
बापू-कथा (१९२०-१९४८)	–हरिभाऊ उपाध्याय	३.००
गीताबोध व मंगलप्रभात	–गांधीजी	१.००
मेरे सपनों का भारत (संक्षिप्त)	–गांधीजी	२.००
हिन्द स्वराज्य	–गांधीजी	१.००
Ruskin & Gandhi	–Dr. V. Laxmi Menon	1.00
The Philosophy of Sarvodaya after Gandhi	–V. N. Tandon	6.00

सर्व सेवा संघ प्रकाशन
राजघाट, वाराणसी